धर्म-प्रज्ञप्ति

[खण्ड १]

(दशवैकालिक वर्गीकृत)

१ : धम्म

१—धम्मो मंगलमुक्किट्ठं
अहिंसा संजमो तवो ।
देवा वि तं नमंसंति
जस्स धम्मे सया मणो ॥ (१।१)

२—जरा जाव न पीलेइ
वाही जाव न वड्ढई ।
जाविंदिया न हायंति
ताव धम्मं समायरे ॥ (८।३५)

१ : धर्म

१—धर्म उत्कृष्ट मंगल है। अहिंसा, संयम और तप उसके लक्षण हैं। जिसका मन सदा धर्म में रमा रहता है, उसे देव भी नमस्कार करते हैं। (१।१)

२—जब तक बुढ़ापा पीड़ित न करे, व्याधि न बढ़े और इन्द्रियाँ क्षीण न हों, तब तक धर्म का आचरण करे। (८।३५)

२ : सुय-समाही

३—चउव्विहा खलु सुय-समाही भवइ, तंजहा—

(१) सुयं मे भविस्सइ त्ति
अज्झाइयव्वं भवइ ।

(२) एगग्गचित्तो भविस्सामि त्ति
अज्झाइयव्वं भवइ ।

(३) अप्पाणं ठावइस्सामि त्ति
अज्झाइयव्वं भवइ ।

(४) ठिओ परं ठावइस्सामि त्ति
अज्झाइयव्वं भवइ । (६।४सू०५)

४—नाणमेगग्ग-चित्तो य
ठिओ ठावयई परं ।
सुयाणि य अहिज्जित्ता
रओ सुय-समाहिए ॥ (६।४सू०५)

२ : श्रुत-समाधि

३—श्रुत-समाधि के चार प्रकार होते हैं, यथा—

(१) मुझे श्रुत प्राप्त होगा, इसलिए अध्ययन करना चाहिए।

(२) मैं एकाग्र-चित्त होऊँगा, इसलिए अध्ययन करना चाहिए।

(३) मैं आत्मा को धर्म में स्थापित करूँगा, इसलिए अध्ययन करना चाहिए।

(४) मैं धर्म में स्थित होकर दूसरे को उसमें स्थापित करूँगा, इसलिए अध्ययन करना चाहिए। (९।४सू०५)

४—अध्ययनके द्वारा ज्ञान होता है, चित्त की एकाग्रता होती है, मुमुक्षु धर्म में स्थित होता है और दूसरे को स्थिर करता है तथा अनेक प्रकार के श्रुत का अध्ययन कर श्रुत-समाधि में रत हो जाता है। (९।४।सू०५)

५—पढमं नाणं तओ दया
एवं चिट्ठइ सव्व-संजए ।
अन्नाणी किं काही
किं वा नाहिइ छेय पावगं ॥ (४।१०)

६—सोच्चा जाणइ कल्लाणं
सोच्चा जाणइ पावगं ।
उभयं पि जाणई सोच्चा
जं छेयं तं समायरे ॥ (४।११)

७—जो जीवे वि न याणाइ
अजीवे वि न याणई ।
जीवाजीवे अयाणंतो
कहं सो नाहिइ संजमं ॥ (४।१२)

८—जो जीवे वि वियाणाइ
अजीवे वि वियाणई ।
जीवाजीवे वियाणंतो
सो हु नाहिइ संजमं ॥ (४।१३)

५—पहले ज्ञान फिर दया—इस प्रकार सब मुनि स्थित होते हैं। अज्ञानी क्या करेगा ? वह क्या जानेगा—क्या श्रेय है और क्या पाप है ? (४।१०)

६—जीव सुन कर कल्याण को जानता है और सुनकर ही पाप को जानता है। कल्याण और पाप सुनकर ही जाने जाते हैं। वह उनमें जो श्रेय है, उसी का आचरण करे।(४।११)

७—जो जीवों को भी नहीं जानता, अजीवों को भी नहीं जानता वह - जीव और अजीव को न जानने वाला - संयम को कैसे जानेगा ? (४।१२)

८—जो जीवों को भी जानता है, अजीवों को भी जानता है वही - जीव और अजीव दोनों को जानने वाला ही - संयम को जान सकेगा। (४।१३)

९—इहलोग-पारत्त - हियं
जेणं गच्छइ सोग्गइं ।
बहुस्सुयं पज्जुवासेज्जा
पुच्छेज्जत्थ-विणिच्छयं ॥ (८।४३)

६—जिसके द्वारा इहलोक और परलोक में हित होता है, मृत्यु के पश्चात् सुगति प्राप्त होती है, उस ज्ञान की प्राप्ति के लिए वह बहुश्रुत की पर्युपासना करे और अर्थ-विनिश्चय के लिए प्रश्न करे। (८।४३)

३ : तव-समाही

१०—चउव्विहा खलु तव-समाही भवइ, तंजहा—

(१) नो इहलोगट्ठयाए
तवमहिट्ठेज्जा ।

(२) नो परलोगट्ठयाए
तवमहिट्ठेज्जा ।

(३) नो कित्ति-वण्ण-सद्द-सिलोगट्ठयाए
तवमहिट्ठेज्जा ।

(४) नन्नत्थ निज्जरट्ठयाए
तवमहिट्ठेज्जा । (द।४सू०६)

११—विविह-गुण-तवो-रए य निच्चं
भवइ निरासए निज्जरट्ठिए ।
तवसा धुणइ पुराण-पावगं
जुत्तो सया तव-समाहिए ॥ (द।४सू०६)

३ : तप-समाधि

१०—तप-समाधि के चार प्रकार होते हैं, यथा—

(१) इहलोक के निमित्त तप नहीं करना चाहिए।

(२) परलोक के निमित्त तप नहीं करना चाहिए।

(३) कीर्ति, वर्ण, शब्द और श्लोक के लिए तप नहीं करना चाहिए।

(४) निर्जरा के अतिरिक्त अन्य किसी भी उद्देश्य से तप नहीं करना चाहिए। (९।४ सू०६)

११—सदा विविध गुण वाले तप में रत रहने वाला मुनि पौद्गलिक प्रतिफल की इच्छा से रहित होता है। वह केवल निर्जरा का अर्थी होता है, तप के द्वारा पुराने कर्मों का विनाश करता है और तप-समाधि में सदा युक्त हो जाता है। (९।४ सू०६)

४ : आयार-समाही

१२—चउव्विहा खलु आयार-समाही भवइ, तंजहा—

(१) नो इहलोगट्ठयाए
आयारमहिट्ठेज्जा

(२) नो परलोगट्ठयाए
आयारमहिट्ठेज्जा

(३) नो कित्ति-वण्ण-सद्द-सिलोगट्ठयाए
आयारमहिट्ठेज्जा।

(४) नन्नत्थ आरहंतेहिं हेऊहिं
आयारमहिट्ठेज्जा। (९।४सू०७)

१३—जिण-वयण-रए अतितिणे
पडिपुण्णाययमाययट्ठिए।
आयार-समाहि-संवुडे
भवइ य दंते भाव-संधये॥ (९।४सू०७)

४ : आचार-समाधि

१२—आचार-समाधि के चार प्रकार हैं, जैसे—

(१) इहलोक के निमित्त आचार का पालन नहीं करना चाहिए।

(२) परलोक के निमित्त आचार का पालन नहीं करना चाहिए।

(३) कीर्त्ति, वर्ण, शब्द और श्लोक के निमित्त आचार का पालन नहीं करना चाहिए।

(४) अर्हत्-उपदिष्ट हेतु (संवर और निर्जरा) के अतिरिक्त अन्य किसी भी उद्देश्य से आचार का पालन नहीं करना चाहिए। (९।४ सू०७)

१३—जो जिनवचन में रत होता है, जो बकवास नहीं करता है, जो सूत्रार्थ से प्रतिपूर्ण होता है, जो अत्यन्त-मोक्षार्थी होता है, वह आचार-समाधि के द्वारा संवृत्त होकर इन्द्रिय और मन का दमन करनेवाला तथा मोक्ष को निकट करनेवाला होता है। (९।४ सू०७)

१४—जाए सद्धाए निक्खंतो
परियाय - ट्ठाणमुत्तमं ।
तमेव अणुपालेज्जा
गुणे आयरिय-सम्मए ।। (८।६०)

१५—जोगं च समण-धम्मम्मि
जुंजे अणलसो धुवं ।
जुत्तो य समण-धम्मम्मि
अट्ठं लहइ अणुत्तरं ।। (८।४२)

१६—धुव-सीलयं सययं न हावएज्जा । (८।४०)

१४—मुनि जिस श्रद्धा से उत्तम प्रव्रज्या-स्थान के लिए घर से निकला, उसी का अनुपालन करे। आचार्य-सम्मत गुणों की आराधना में उसे पूर्ववत् बनाए रखे। (८।६०)

१५—मुनि आलस्य-रहित हो श्रमण-धर्म में योग (मन, वचन और काया) का यथोचित प्रयोग करे। जिस क्रिया का जो काल हो उसमें वह अवश्य करे। श्रमण-धर्म में लगा हुआ मुनि अनुत्तर फल को प्राप्त होता है। (८।४२)

१६—मुनि अष्टादश-सहस्र शीलांगों की कभी हानि न करे। (८।४०)

५ : आय-रक्खा

१७—से जाणमजाणं वा
कट्टु आहम्मियं पयं ।
संवरे खिप्पमप्पाणं
बीयं तं न समायरे ॥ (८।३१)

१८—अणायारं परक्कम्म
नेव गूहे न निण्हवे ।
सुई सया वियड-भावे
असंसत्ते जिइंदिए ॥ (८।३२)

१९—जो पुव्वरत्तावररत्तकाले
संपिक्खई अप्पगमप्पएणं ।
किं मे कडं किं च मे किच्चसेसं
किं सक्कणिज्जं न समायरामि ॥(चू० २।१२)

२०—किं मे परो पासइ किं व अप्पा
किं वाहं खलियं न विवज्जयामि ।
इच्चेव सम्मं अणुपासमाणो
अणागयं नो पडिबंध कुज्जा ॥(चू० २।१३)

५ : आत्म-रक्षा

१७—जान या अजान में कोई अधर्म-कार्य कर बैठे तो अपनी आत्मा को उससे तुरन्त हटा ले, फिर दूसरी बार वह कार्य न करे। (८।३१)

१८—अनाचार का सेवन कर उसे न छिपाए और न अस्वीकार करे किन्तु सदा पवित्र, स्पष्ट, अलिप्त और जितेन्द्रिय रहे। (८।३२)

१९—जो साधु रात्रि के पहले और पिछले प्रहर में अपने आप अपना आलोचन करता है—मैंने क्या किया ? मेरे लिये क्या कार्य करना शेष है ? वह कौन सा कार्य है जिसे मैं कर सकता हूँ, पर प्रमादवश नहीं कर रहा हूँ ? (चू० २।१२)

२०—क्या मेरे प्रमाद को कोई दूसरा देखता है अथवा अपनी भूल को मैं स्वयं देख लेता हूँ ? वह कौन सी स्खलना है जिसे मैं नहीं छोड़ रहा हूँ ? इस प्रकार सम्यक्-प्रकार से आत्म-निरीक्षण करता हुआ मुनि अनागत का प्रतिबन्ध न करे—असंयम में न बंधे, निदान न करे। (चू० २।१३)

२१—जत्थेव पासे कइ दुप्पउत्तं
काएण वाया अदु माणसेणं ।
तत्थेव धीरो पडिसाहरेज्जा
आइन्नओ खिप्पमिव क्खलीणं ॥ (चू० २।१४)

२२—जस्सेरिसा जोग जिइंदियस्स
धिइमओ सप्पुरिसस्स निच्चं ।
तमाहु लोए पडिबुद्ध-जीवी
सो जीवइ संजम-जीविएणं ॥ (चू० २।१५)

२३—अप्पा खलु सययं रक्खियव्वो
सव्विंदिएहिं सुसमाहिएहिं ।
अरक्खिओ जाइ-पहं उवेइ
सुरक्खिओ सव्व-दुहाण मुच्चइ ॥ (चू० २।१६)

२१—जहाँ कहीं भी मन, वचन और काया को दुष्प्रवृत्त होता हुआ देखे तो धीर साधु वहीं उनको प्रति-संहृत करे—फिर सत्प्रवृत्ति में लगाए, जैसे जातिमान अश्व ढीली होती हुई लगाम को प्रति-संहृत करता है—फिर ऊपर उठा लेता है। (चू० २।१४)

२२—जिस जितेन्द्रिय, धृतिमान् सत्पुरुष के योग सदा इस प्रकार के होते हैं उसे लोक में प्रतिबुद्धजीवी कहा जाता है। जो ऐसा होता है, वही संयमी जीवन जीता है। (चू० २।१५)

२३—सब इन्द्रियों को सुसमाहित कर आत्मा की सतत रक्षा करनी चाहिए। अरक्षित आत्मा जाति-पथ (जन्म-मरण) को प्राप्त होता है और सुरक्षित आत्मा सब दुःखों से मुक्त हो जाता है। (चू० २।१६)

६ : चाइ

२४—वत्थ-गंधमलंकारं
इत्थीओ सयणाणि य ।
अच्छन्दा जे न भुंजन्ति
न से चाइ त्ति वुच्चइ ॥ (२।२)

२५—जे य कन्ते पिए भोए
लद्धे विपिट्ठिकुव्वई ।
साहीणे चयइ भोए,
से हु चाइ त्ति वुच्चइ ॥ (२।३)

६ : त्यागी

२४—जो वस्त्र, गन्ध, अलंकार, स्त्रियों और पलंगों का परवश होने से (या उनके अभाव में) सेवन नहीं करता, वह त्यागी नहीं कहलाता। (२।२)

२५—त्यागी वह कहलाता है जो कान्त और प्रिय भोग उपलब्ध होने पर भी उनकी ओर से पीठ फेर लेता है और स्वाधीनता पूर्वक भोगों का त्याग करता है। (२।३)

७ : भोग-विरइ

२६—कहं नु कुज्जा सामण्णं
जो कामे न निवारए ।
पए पए विसीयंतो
संकप्पस्स वसं गओ ॥ (२।१)

२७—अधुवं जीवियं नच्चा
सिद्धि-मग्गं वियाणिया ।
विणियट्टेज्ज भोगेसु
आउं परिमियमप्पणो ॥ (८।३४)

२८—विसएसु मणुन्नेसु
पेमं नाभिनिवेसए ।
अणिच्चं तेसिं विन्नाय
परिणामं पोग्गलाण उ ॥ (८।५८)

७ : भोग-विरति

२६—वह मुनि श्रामण्य का क्या पालन करेगा जो काम (विषय-राग) का निवारण नहीं करता और संकल्प के वश हो पल-पल पर विषाद ग्रस्त होता है ? (२।१)

२७—मुमुक्षु जीवन को अनित्य और अपनी आयु को परिमित जान तथा सिद्धि-मार्ग का ज्ञान प्राप्त कर भोगों से निवृत्त बने। (८।३४)

२८—शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श—इन पुद्गलों के परिणमन को अनित्य जानकर ब्रह्मचारी मनोज्ञ विषयों में राग-भाव न करे। (८।५८)

२९—पोग्गलाण परीणामं
तेसिं नच्चा जहा तहा ।
विणीय-तण्हो विहरे
सीईभूएण अप्पणा ॥ (८।५९)

३०—कुम्मो व्व अल्लीण-पलीण-गुत्तो
परक्कमेज्जा तव-संजमम्मि ॥ (८।४०)

३१—समाए पेहाए परिव्वयंतो
सिया मणो निस्सरई बहिद्धा ।
न सा महं नोवि अहं पि तीसे
इच्चेव ताओ विणएज्ज रागं ॥ (२।४)

३२—पक्खन्दे जलियं जोइं
धूमकेउं दुरासयं ।
नेच्छंति वन्तयं भोत्तुं
कुले जाया अगन्धणे ॥ (२।६)

२९—इन्द्रियों के विषय भूत पुद्गलों के परिणमन को जैसा है वैसा जानकर अपनी आत्मा को शीतल बना तृष्णा-रहित हो विहार करे। (८।५९)

३०—कूर्म की तरह आलीन-प्रलीन-गुप्त—इन्द्रिय और मन से संयत होकर तप और संयम में पराक्रम करे। (८।४०)

३१—समदृष्टि पूर्वक विचरते हुए भी यदि कदाचित् यह मन संयम से बाहर निकल जाय तो यह विचार कर कि 'वह मेरी नहीं है और न मैं ही उसका हूँ' मुमुक्षु विषय-राग को दूर करे। (२।४)

३२—अगन्धन कुल में उत्पन्न सर्प ज्वलित, विकराल और धूमशिख अग्नि में प्रवेश कर जाते हैं, परन्तु (जीने के लिए) वमन किए हुए विष को वापस पीने की इच्छा नहीं करते। (२।६)

३३—धिरत्थु ते जसोकामी
जो तं जीवियकारणा ।
वन्तं इच्छसि आवेउं
सेयं ते मरणं भवे ॥ (२।७)

३४—अहं च भोयरायस्स
तं चऽसि अन्धगवण्हिणो ।
मा कुले गन्धणा होमो
संजमं निहुओ चर ॥ (२।८)

३५—जइ तं काहिसि भावं
जा जा दच्छसि नारिओ ।
वायाइद्धो व्व हडो
अट्ठियप्पा भविस्ससि ॥ (२।९)

३६—तीसे सो वयणं सोच्चा
संजयाए सुभासियं ।
अंकुसेण जहा नागो
धम्मे संपडिवाइओ ॥ (२।१०)

३३—हे यशःकामिन् ! धिक्कार है तुझे ! जो तू भोगी-जीवन के लिए वमी हुई वस्तु को पीने की इच्छा करता है। इससे तो तेरा मरना श्रेय है। (२।७)

३४—मैं भोजराज की पुत्री हूँ और तू अंधकवृष्णि का पुत्र। हम कुल में गन्धन सर्प की तरह न हों। तू निभृत हो—स्थिर मन हो—संयम का पालन कर। (२।८)

३५—यदि तू स्त्रियों को देख उनके प्रति इस प्रकार राग-भाव करेगा तो वायु से आहत हट की तरह अस्थितात्मा हो जाएगा। (२।९)

३६—संयमिनी के इन सुभाषित वचनों को सुनकर, रथनेमि धर्म में वैसे ही स्थिर हो गए, जैसे अंकुश से नाग—हाथी होता है। (२।१०)

३७—एवं करेन्ति संबुद्धा
पंडिया पवियक्खणा ।
विणियट्टन्ति भोगेसु
जहा से पुरिसोत्तमो ॥ (२।११)

३७—सम्बुद्ध, पण्डित और प्रविचक्षण पुरुष ऐसा ही करते हैं—वे भोगों से वैसे ही दूर हो जाते हैं, जैसे कि पुरुषोत्तम रथनेमि हुए। (२।११)

८ : पडिसोयगामि भव

३८—अणुसोय-पट्ठिए बहु-जणम्मि
पडिसोय-लद्ध-लक्खेणं ।
पडिसोयमेव अप्पा
दायव्वो होउकामेणं ॥ (चू० २।२)

३६—अणुसोय-सुहोलोगो
पडिसोओ आसवो सुविहियाणं ।
अणुसोओ संसारो
पडिसोओ तस्स उत्तारो ॥ (चू०२।३)

८ : प्रतिस्रोतगामी बन

३८—अधिकांश लोग अनुस्रोत में प्रस्थान कर रहे हैं—भोग-मार्ग की ओर जा रहे हैं। किन्तु जो मुक्त होना चाहता है, जिसे प्रतिस्रोत में गति करने का लक्ष्य प्राप्त है, उसे अपनी आत्मा को प्रतिस्रोत में ही ले जाना चाहिए। (चू० २।२)

३९—जन-साधारण को अनुस्रोत में सुख की अनुभूति होती है। किन्तु जो सुविहित साधु हैं, उनका आश्रव (इन्द्रिय-विजय) प्रतिस्रोत होता है। अनुस्रोत संसार है (जन्म-मरण की परम्परा है) और प्रतिस्रोत उसका उतार है (जन्म-मरण का पार पाना है)। (चू० २।३)

६ : छज्जीवणिया

४०—(१) सुयं मे आउसं। तेणं भगवया एवमक्खायं-इह खलु छज्जीवणिया नामज्झयणं समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइया सुयक्खाया सुपन्नत्ता सेयं मे अहिज्जिउं अज्झयणं धम्मपन्नत्ती।

(२) कयरा खलु सा छज्जीवणिया नामज्झयणं समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइया सुयक्खाया सुपन्नत्ता सेयं मे अहिज्जिउं अज्झयणं धम्मपन्नत्ती ?

(३) इमा खलु सा छज्जीवणिया नामज्झयणं समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइया सुयक्खाया सुपन्नत्ता सेयं मे अहिज्जिउं अज्झयणं धम्मपन्नत्ती।

तं जहा—पुढविकाइया आउकाइया तेउकाइया वाउकाइया वणस्सइकाइया तसकाइया।

६ : षड्जीवनिका

४०—(१) आयुष्मन् ! मैंने सुना है भगवान् ने इस प्रकार कहा—निर्ग्रन्थ-प्रवचन में निश्चय ही षड्जीवनिका नामक अध्ययन काश्यप-गोत्री श्रमण भगवान् महावीर द्वारा प्रवेदित, सु-आख्यात और सु-प्रज्ञप्त है। इस धर्म-प्रज्ञप्ति अध्ययन का पठन मेरे लिए श्रेय है।

(२) वह षड्जीवनिका नामक अध्ययन कौन सा है जो काश्यप-गोत्री श्रमण भगवान् महावीर द्वारा प्रवेदित, सु-आख्यात और सु-प्रज्ञप्त है, जिस धर्म-प्रज्ञप्ति अध्ययन का पठन मेरे लिए श्रेय है ?

(३) वह षड्जीवनिका नामक अध्ययन जो काश्यप-गोत्री श्रमण भगवान् महावीर द्वारा प्रवेदित, सु-आख्यात और सु-प्रज्ञप्त है, जिस धर्म-प्रज्ञप्ति अध्ययन का पठन मेरे लिए श्रेय है—यह है जैसे—पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तेजस्-कायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक और त्रस-कायिक।

(४) पुढवी चित्तमंतमक्खाया अणेगजीवा पुढो-सत्ता अन्नत्थ सत्थपरिणएणं ।

(५) आऊ चित्तमंतमक्खाया अणेगजीवा पुढो-सत्ता अन्नत्थ सत्थपरिणएणं ।

(६) तेऊ चित्तमंतमक्खाया अणेगजीवा पुढो-सत्ता अन्नत्थ सत्थपरिणएणं ।

(७) वाऊ चित्तमंतक्खाया अणेगजीवा पुढो-सत्ता अन्नत्थ सत्थपरिणएणं ।

(८) वणस्सई चित्तमंतमक्खाया अणेगजीवा पुढो-सत्ता अन्नत्थ सत्थपरिणएणं ।

तं जहा—अग्ग-बीया मूल-बीया पोर-बीया खंध-बीया बीय-रुहा सम्मुच्छिमा तण-लया ।

वणस्सइकाइया सबीया चित्तमंतमक्खाया अणेगजीवा पुढो-सत्ता अन्नत्थ सत्थपरिणएणं ।

(४) शस्त्र-परिणति (विरोधी द्रव्य के स्पर्श) से पूर्व पृथ्वी चित्तवती (सचेतन) कही गई है। वह अनेक जीव और पृथक्-सत्त्वों वाली है।

(५) शस्त्र-परिणति से पूर्व अप् चित्तवान् कहा गया है। वह अनेक जीव और पृथक्-सत्त्वों वाला है।

(६) शस्त्र-परिणति से पूर्व तेजस् चित्तवान् कहा गया है। वह अनेक जीव और पृथक्-सत्त्वों वाला है।

(७) शस्त्र-परिणति से पूर्व वायु चित्तवान् कहा गया है। वह अनेक जीव और पृथक्-सत्त्वों वाला है।

(८) शस्त्र-परिणति से पूर्व वनस्पति चित्तवती कही गई है। वह अनेक जीव और पृथक्-सत्त्वों वाली है।

उसके प्रकार ये हैं—अग्र-बीज, मूल-बीज, पर्व-बीज, स्कन्ध-बीज, बीज-रुह, सम्मूर्च्छिम, तृण और लता।

शस्त्र-परिणति से पूर्व बीजपर्यन्त वनस्पतिकायिक चित्तवान् कहे गए हैं। वे अनेक जीव और पृथक्-सत्त्वों वाले हैं।

(६) से जे पुण इमे अणेगे बहवे तसा पाणा तं जहा—अंडया पोयया जराउया रसया संसेइमा सम्मुच्छिमा उब्भिया उववाइया। जेसिं केसिंचि पाणाणं अभिक्कंतं पडिक्कंतं संकुचियं पसारियं रुयं भंतं तसियं पलाइयं आगइगइ-विन्नाया जे य कीडपयंगा जा य कुंथु पिवीलिया सव्वे बेइंदिया सव्वे तेइंदिया सव्वे चउरिंदिया सव्वे पंचिंदिया सव्वे तिरिक्ख-जोणिया सव्वे नेरइया सव्वे मणुया सव्वे देवा सव्वे पाणा परमाहम्मिया एसो खलु छट्ठो जीवनिकाओ तसकाओ त्ति पवुच्चई।

(४।सू १-६)

(६) और ये जो अनेक बहु त्रस प्राणी हैं, जैसे—अण्डज, पोतज, जरायुज, रसज, संस्वेदज, सम्मूर्च्छनज, उद्भिज् और औपपातिक—वे छठे जीवनिकाय में आते हैं। जिन किन्हीं प्राणियों में सामने जाना, पीछे हटना, संकुचित होना, फैलना, शब्द करना, इधर-उधर जाना, भयभीत होना, दौड़ना—ये क्रियाएं हैं और जो आगति एवं गति के विज्ञाता हैं, वे त्रस हैं और जो कीट, पतंग, कुंथु, पिपीलिका, सब दो इन्द्रिय वाले जीव, सब तीन इन्द्रिय वाले जीव, सब चार इन्द्रिय वाले जीव, सब पाँच इन्द्रिय वाले जीव, सब तिर्यक्-योनिक, सब नैरयिक, सब मनुष्य, सब देव और सब प्राणी सुख के इच्छुक हैं। यह छठा जीवनिकाय त्रसकाय कहलाता है।

(४।सू १-६)

१० : निग्गंथ-धम्म

४१—नाण - दंसण - संपन्नं
संजमे य तवे रयं ।
गणिमागमसंपन्नं
उज्जाणम्मि समोसढं ॥ (६।१)

४२—रायाणो रायमच्चा य
माहणा अदुव खत्तिया ।
पुच्छंति निहुअप्पाणो
कहं मे आयारगोयरो ? ॥ (६।२)

४३—तेसिं सो निहुओ दंतो
सव्व - भूय - सुहावहो ।
सिक्खाए सुसमाउत्तो
आइक्खइ वियक्खणो ॥ (६।३)

१० : निर्ग्रन्थ-धर्म

४१—ज्ञान-दर्शन से सम्पन्न, संयम और तप में रत, आगम-सम्पदा से युक्त गणी को उद्यान में समवसृत देख—(६।१)

४२—विनीत आत्मा राजा और उनके अमात्य, ब्राह्मण और क्षत्रिय उन्हें नम्रता पूर्वक पूछते हैं—आपके आचार का विषय कैसा है ? (६।२)

४३—ऐसा पूछे जाने पर वे स्थितात्मा, दान्त, सब प्राणियों के लिए सुखावह, शिक्षा में समायुक्त और विचक्षण गणी उन्हें बताते हैं— (६।३)

४४—हंदि धम्मत्थ - कामाणं
निग्गंथाणं सुणेह मे ।
आयार-गोयरं भीमं
सयलं दुरहिट्ठियं ॥ (६।४)

४५—नन्नत्थ एरिसं वुत्तं
जं लोए परम-दुच्चरं ।
विउल - ट्ठाण - भाइस्स
न भूयं न भविस्सई ॥ (६।५)

४६—सखुड्डग - वियत्ताणं
वाहियाणं च जे गुणा ।
अखंड-फुडिया कायव्वा
तं सुणेह जहा तहा ॥ (६।६)

४४—मोक्ष चाहने वाले निर्ग्रन्थों के भीम, दुर्धर और पूर्ण आचार का विषय मुझ से सुनो। (६।४)

४५—मानव-जगत् के लिए इस प्रकार का अत्यन्त दुष्कर आचार निर्ग्रन्थ-दर्शन के अतिरिक्त कहीं नहीं कहा गया है। मोक्ष-स्थान की आराधना करने वाले के लिए ऐसा आचार अतीत में न कहीं था और न कहीं भविष्य में होगा। (६।५)

४६—बाल, वृद्ध, अस्वस्थ या स्वस्थ—सभी मुमुक्षुओं को जिन गुणों की आराधना अखण्ड और अस्फुटित रूप से करनी चाहिए, उन्हें अविकल रूप से सुनो। (६।६)

११ : अहिंसा

४७—तत्थिमं पढमं ठाणं
महावीरेण देसियं ।
अहिंसा निउणं दिट्ठा
सव्व - भूएसु संजमो ॥ (६।८)

४८—जावंति लोए पाणा
तसा अदुव थावरा ।
ते जाणमजाणं वा
न हणे णो वि घायए ॥ (६।९)

४९—सव्वे जीवा वि इच्छन्ति
जीविउं न मरिज्जिउं ।
तम्हा पाण-वहं घोरं
निग्गंथा वज्जयंति णं ॥ (६।१०)

११ : अहिंसा

४७—महावीर ने उन अठारह स्थानों में पहला स्थान अहिंसा का कहा है। उसे उन्होंने सूक्ष्म रूप से देखा है। सब जीवों के प्रति संयम रखना अहिंसा है। (६।८)

४८—लोक में जितने भी त्रस और स्थावर प्राणी हैं, निर्ग्रन्थ जान या अजान में उनका हनन न करे और न कराए। (६।९)

४९—सभी जीव जीना चाहते हैं, मरना नहीं। इसलिए प्राण-वध को भयानक जानकर निर्ग्रन्थ उसका वर्जन करते हैं। (६।१०)

५०—पुढविकायं न हिंसंति
मणसा वयसा कायसा।
तिविहेण करण-जोएण
संजया सुसमाहिया॥ (६।२६)

५१—पुढविकायं विहिंसंतो
हिंसई उ तयस्सिए।
तसे य विविहे पाणे
चक्खुसे य अचक्खुसे॥ (६।२७)

५२—तम्हा एयं वियाणित्ता
दोसं दुग्गइ-वड्ढणं।
पुढविकाय - समारंभं
जावज्जीवाए वज्जए॥ (६।२८)

५३—से भिक्खू वा भिक्खुणी वा संजय-विरय-पडिहय-पच्चक्खाय-पावकम्मे दिया वा राओ वा एगओ वा परिसागओ वा

५०—सुसमाहित संयमी मन, वचन, काया—इस त्रिविध करण और कृत, कारित एवं अनुमोदित—इस त्रिविध योग से पृथ्वीकाय की हिंसा नहीं करते। (६।२६)

५१—पृथ्वीकाय की हिंसा करता हुआ उसके आश्रित अनेक प्रकार के चाक्षुष (दृश्य), अचाक्षुष (अदृश्य) त्रस और स्थावर प्राणियों की हिंसा करता है। (६।२७)

५२—इसलिए इसे दुर्गति-वर्धक दोष जानकर मुनि जीवन-पर्यन्त पृथ्वीकाय के समारम्भ का वर्जन करे। (६।२८)

५३—संयत-विरत-प्रतिहत-प्रत्याख्यात-पापकर्मा भिक्षु अथवा भिक्षुणी, दिन में या रात में, एकान्त में या परिषद् में,

सुत्ते वा जागरमाणे वा—से पुढविं वा भित्तिं वा सिलं वा लेलुं वा ससरक्खं वा कायं ससरक्खं वा वत्थं हत्थेण वा पाएण वा कट्ठेण वा किलिंचेण वा अंगुलियाए वा सलागाए वा सलाग हत्थेण वा, न आलिहेज्जा न विलिहेज्जा न घट्टेज्जा न भिंदेज्जा अन्नं न आलिहावेज्जा न विलिहावेज्जा न घट्टावेज्जा न भिंदावेज्जा अन्नं आलिहंतं वा विलिहंतं वा घट्टंतं वा भिंदंतं वा न समणुजाणेज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि। तस्स भंते! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि। (४।सू १८)

५४—आउकायं न हिंसंति
मणसा वयसा कायसा।
तिविहेण करण-जोएण
संजया सुसमाहिया॥ (६।२६)

सोते या जागते—पृथ्वी, भित्ति, शिला, ढेले, सचित्त-रज से संसृष्ट काय अथवा सचित्त रज से संसृष्ट वस्त्र का हाथ पाँव, काष्ठ, खपाच, अङ्गुली, शलाका अथवा शलाका-समूह से न आलेखन करे, न विलेखन करे, न घट्टन करे और न भेदन करे, दूसरे से न आलेखन कराए, न विलेखन कराए, न घट्टन कराए और न भेदन कराए, आलेखन, विलेखन, घट्टन या भेदन करने वाले का अनुमोदन न करे, यावज्जीवन के लिए तीन करण तीन योग से—मन से, वचन से, काया से—न करूँगा, न कराऊँगा और न करने वाले का अनुमोदन भी करूँगा।

भंते ! मैं अतीत के पृथ्वी-समारम्भ से निवृत्त होता हूँ, उसकी निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ। (४।सू १८)

५४—सुसमाहित संयमी मन, वचन, काया—इस त्रिविध करण तथा कृत, कारित और अनुमोदित—इस त्रिविध योग से अप्काय की हिंसा नहीं करते। (६।२९)

५५—आउकायं विहिंसंतो
हिंसई उ तयस्सिए ।
तसे य विविहे पाणे
चक्खुसे य अचक्खुसे ॥ (६।३०)

५६—तम्हा एयं वियाणित्ता
दोसं दुग्गइ-वड्ढणं ।
आउकाय-समारंभं
जावज्जीवाए वज्जए ॥ (६।३१)

५७—से भिक्खू वा भिक्खुणी वा संजय-विरय-पडिहय-पच्चक्खाय-पावकम्मे दिया वा राओ वा एगओ वा परिसागओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा—से उदगं वा ओसं वा हिमं वा महियं वा करगं वा हरतणुगं वा सुद्धोदगं वा

५५—अप्काय की हिंसा करता हुआ उसके आश्रित अनेक प्रकार के चाक्षुष (*दृश्य*), अचाक्षुष (*अदृश्य*) त्रस और स्थावर प्राणियों की हिंसा करता है। (६।३०)

५६—इसलिए इसे दुर्गति-वर्धक दोष जानकर मुनि जीवन-पर्यन्त अप्काय के समारम्भ का वर्जन करे। (६।३१)

५७—संयत-विरत-प्रतिहत-प्रत्याख्यात-पापकर्मा भिक्षु अथवा भिक्षुणी, दिन में या रात में, सोते या जागते, एकान्त में या परिषद् में—उदक, ओस, हिम, धूंअर, ओले, भूमि को भेदकर निकले हुए जल बिन्दु, शुद्ध उदक,

उदओल्लं वा कायं उदओल्लं वा वत्थं ससिणिद्धं वा कायं ससिणिद्धं वा वत्थं, न आमुसेज्जा न संफुसेज्जा न आवीलेज्जा न पवीलेज्जा न अक्खोडेज्जा न पक्खोडेज्जा न आयावेज्जा न पयावेज्जा अन्नं न आमुसावेज्जा न संफुसावेज्जा न आवीलावेज्जा न पवीलावेज्जा न अक्खोडावेज्जा न पक्खोडावेज्जा न आयावेज्जा न पयावेज्जा अन्नं आमुसंतं वा संफुसंतं वा आवीलंतं वा पवीलंतं वा अक्खोडंतं वा पक्खोडंतं वा आयावंतं वा पयावंतं वा न समणुजाणेज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि। तस्स भंते! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि। (४।सू०१६)

जल से भीगे शरीर अथवा जल से भीगे वस्त्र, जल से स्निग्ध शरीर अथवा जल से स्निग्ध वस्त्र का न आमर्श करे, न संस्पर्श करे, न आपीड़न करे, न प्रपीड़न करे, न आस्फोटन करे, न प्रस्फोटन करे, न आतापन करे और न प्रतापन करे ; दूसरों से न आमर्श कराए, न संस्पर्श कराए, न आपीड़न कराए, न प्रपीड़न कराए, न आस्फोटन कराए, न प्रस्फोटन कराए, न आतापन कराए और न प्रतापन कराए और आमर्श, संस्पर्श, आपीड़न, प्रपीड़न, आस्फोटन, प्रस्फोटन, आतापन या प्रतापन करने वाले का अनुमोदन न करे, यावज्जीवन के लिए तीन करण, तीन योग से—मन से, वचन से, काया से—न करूँगा, न कराऊँगा और करने वाले का अनुमोदन भी नहीं करूँगा।

भंते ! मैं अतीत के जल-समारम्भ से निवृत्त होता हूँ, उसकी निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ। (४।सू०१९)

५८—जायतेयं न इच्छंति
पावगं जलइत्तए ।
तिक्खमन्नयरं सत्थं
सव्वओ वि दुरासयं ॥ (६।३२)

५९—पाईणं पडिणं वा वि
उड्ढं अणुदिसामवि ।
अहे दाहिणओ वा वि
दहे उत्तरओ वि य ॥ (६।३३)

६०—भूयाणमेसमाघाओ
हव्ववाहो न संसओ ।
तं पईवपयावट्ठा
संजया किंचि नारभे ॥ (६।३४)

६१—तम्हा एवं वियाणित्ता
दोसं दुग्गइ-वड्ढणं ।
तेउकाय - समारंभं
जावज्जीवाए वज्जए ॥ (६।३५)

५८—मुनि जाततेज अग्नि जलाने की इच्छा नहीं करते। क्योंकि वह दूसरे शस्त्रों से तीक्ष्ण शस्त्र और सब ओर से दुराश्रय है। (६।३२)

५९—वह पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर, ऊर्ध्व, अधः दिशा और विदिशाओं में दहन करती है। (६।३३)

६०—निःसन्देह यह हव्यवाह (अग्नि) जीवों के लिए आघात है। संयमी प्रकाश और ताप के लिए इसका कुछ भी आरम्भ न करे। (६।३४)

६१—(अग्नि जीवों के लिए आघात है) इसलिए इसे दुर्गति-वर्धक दोष जानकर मुनि जीवन-पर्यन्त अग्निकाय के समारम्भ का वर्जन करे। (६।३५)

६२—से भिक्खू वा भिक्खुणी वा संजय-विरय-पडिहय-पच्चक्खाय-पावकम्मे, दिया वा राओ वा एगओ वा परिसागओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा—से अगणिं वा इंगालं वा मुम्मुरं वा अच्चिं वा जालं वा अलायं वा सुद्धागणिं वा उक्कं वा, न उंजेज्जा न घट्टेज्जा न उज्जालेज्जा न निव्वावेज्जा अन्नं न उंजावेज्जा न घट्टावेज्जा न उज्जालावेज्जा न निव्वावेज्जा अन्नं उज्जंतं वा घट्टंतं वा उज्जालंतं वा निव्वावंतं वा न समणुजाणेज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि। तस्स भंते! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि। (४।सू०२०)

६३—अनिलस्स समारंभं
बुद्धा मन्नंति तारिसं।
सावज्ज - बहुलं चेयं
नेयं ताईहिं सेवियं॥ (६।३६)

६२—संयत-विरत-प्रतिहत-प्रत्याख्यात-पापकर्मा भिक्षु अथवा भिक्षुणी, दिन में या रात में, सोते या जागते, एकान्त में या परिषद् में—अग्नि, अंगारे, मुर्मुर, अर्चि, ज्वाला, अलात, शुद्ध अग्नि अथवा उल्का का न उत्सेचन करे, न घट्टन करे, न उज्ज्वालन करे और न निर्वाण करे; न दूसरों से उत्सेचन कराए, न घट्टन कराए, न उज्ज्वालन कराए और न निर्वाण कराए और उत्सेचन, घट्टन, उज्ज्वालन या निर्वाण करने वाले का अनुमोदन न करे, यावज्जीवन के लिए तीन करण, तीन योग से—मन से, वचन से, काया से—न करूंगा, न कराऊंगा और करने वाले का अनुमोदन भी नहीं करूंगा।

भन्ते! मैं अतीत के अग्नि-समारम्भ से निवृत्त होता हूँ, उसकी निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ। (४।सू०२०)

६३—तीर्थङ्कर वायु के समारम्भ को अग्नि-समारम्भ के तुल्य ही मानते हैं। यह प्रचुर पाप-युक्त है। यह छह काय के त्राता मुनियों के द्वारा आसेवित नहीं है। (६।३६)

६४—तालियंटेण पत्तेण
साहा - विहुयणेण वा ।
न ते वीइउमिच्छन्ति
वीयावेऊण वा परं ॥ (६।३७)

६५—जंपि वत्थं व पायं वा
कंबलं पाय - पुंछणं ।
न ते वायमुईरंति
जयं परिहरंति य ॥ (६।३८)

६६—तम्हा एयं वियाणित्ता
दोसं दुग्गइ - वड्ढणं ।
वाउकाय - समारंभं
जावज्जीवाए वज्जए ॥ (६।३९)

६७—से भिक्खू वा भिक्खुणी वा संजय-विरय-पडिहय-पच्चक्खाय-पावकम्मे, दिया वा राओ वा एगओ वा परिसागओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा—से सिएण वा विहुयणेण वा

६४—इसलिए वे बीजन, पत्र, शाखा और पंखे से हवा करना तथा दूसरों से हवा कराना नहीं चाहते। (६।३७)

६५—जो भी वस्त्र, पात्र, कम्बल और रजोहरण हैं उनके द्वारा वे वायु की उदीरणा नहीं करते, किन्तु यतनापूर्वक उनका परिभोग करते हैं। (६।३८)

६६—(वायु-समारम्भ सावद्य-बहुल है) इसलिए इसे दुर्गति-वर्धक दोष जानकर मुनि जीवन-पर्यन्त वायुकाय के समारम्भ का वर्जन करे। (६।३९)

६७—संयत - विरत - प्रत्याख्यात - पापकर्मा भिक्षु अथवा भिक्षुणी, दिन में या रात में, सोते या जागते, एकान्त में या परिषद् में — चामर, पंखे,

तालियंटेण वा पत्तेण वा साहाए वा साहा-
भंगेण वा पिहुणेण वा पिहुण-हत्थेण वा
चेलेण वा चेल-कण्णेण वा हत्थेण वा मुहेण
वा अप्पणो वा कायं बाहिरं वा वि पुग्गलं,
न फुमेज्जा न वीएज्जा अन्नं न फुमावेज्जा
न वीयावेज्जा अन्नं फुमंतं वा वीयंतं वा
न समणुजाणेज्जा जावज्जीवाए तिविहं
तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि
न कारवेमि करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि।
तस्स भंते ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि
अप्पाणं वोसिरामि। (४।सू०२१)

६८—वणस्सइं न हिंसंति
मणसा वयसा कायसा।
तिविहेण करणजोएण
संजया सुसमाहिया ॥ (६।४०)

बीजन, पत्र, शाखा, शाखा के टुकड़े, मोर-पंख, मोर-पिच्छी, वस्त्र, वस्त्र के पल्ले, हाथ या मुँह से अपने शरीर अथवा बाहरी पुद्गलों को फूंक न दे, हवा न करे; दूसरों से फूंक न दिलाए, हवा न कराए, और फूंक देने वाले या हवा करने वाले का अनुमोदन न करे, यावज्जीवन के लिए तीन करण, तीन योग से—मन से, वचन से, काया से—न करूँगा, न कराऊँगा और करने वाले का अनुमोदन भी नहीं करूँगा।

भंते ! मैं अतीत के वायु-समारम्भ से निवृत्त होता हूं, उसकी निन्दा करता हूं, गर्हा करता हूँ और आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ। (४।सू०२१)

६८—सुसमाहित संयमी मन, वचन, काया—इस त्रिविध करण तथा कृत, कारित और अनुमोदित—इस त्रिविध योग से वनस्पति की हिंसा नहीं करते। (६।४०)

६६—वणस्सइं विहिंसंतो
हिंसई उ तयस्सिए ।
तसे य विविहे पाणे
चक्खुसे य अचक्खुसे ॥ (६।४१)

७०—तम्हा एयं वियाणित्ता
दोसं दुग्गइ - वड्ढणं ।
वणस्सइ - समारंभं
जावज्जीवाए वज्जए ॥ (६।४२)

७१—से भिक्खू वा भिक्खुणी वा संजय-विरय-पडिहय-पच्चक्खाय-पावकम्मे, दिया वा राओ वा एगओ वा परिसागओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा—से बीएसु वा बीय-पइट्ठिएसु वा रूढेसु वा रूढ-पइट्ठिएसु जाएसु वा जाय-पइट्ठिएसु वा हरिएसु वा हरिय-पइट्ठिएसु वा छिन्नेसु वा छिन्न-पइट्ठिएसु वा सच्चित्त-कोल-पडिनिस्सिएसु वा, न गच्छेज्जा

६६—वनस्पति की हिंसा करता हुआ उसके आश्रित अनेक प्रकार के चाक्षुष (दृश्य), अचाक्षुष (अदृश्य), त्रस और स्थावर प्राणियों की हिंसा करता है। (६।४१)

७०—इसलिए इसे दुर्गति-वर्धक दोष जानकर मुनि जीवन-पर्यन्त वनस्पति के समारम्भ का वर्जन करे। (६।४२)

७१—संयत-विरत-प्रतिहत-प्रत्याख्यात-पापकर्मा भिक्षु अथवा भिक्षुणी, दिन में या रात में, सोते या जागते, एकान्त में या परिषद् में—बीजों पर, बीजों पर रखी हुई वस्तुओं पर, स्फुटित बीजों पर, स्फुटित बीजों पर रखी हुई वस्तुओं पर, पत्ते आने की अवस्था वाली वनस्पति पर, पत्ते आने की अवस्था वाली वनस्पति पर रखी वस्तुओं पर, हरित पर, हरित पर रखी हुई वस्तुओं पर, छिन्न वनस्पति के अंगों पर, छिन्न वनस्पति के अंगों पर रखी हुई वस्तुओं पर, अण्डों एवं काष्ठ-कीट से युक्त काष्ठ आदि पर, न चले,

न चिट्ठेज्जा न निसीएज्जा न तुयट्टेज्जा अन्नं न गच्छावेज्जा न चिट्ठावेज्जा न निसीयावेज्जा न तुयट्टावेज्जा अन्नं गच्छंतं वा चिट्ठंतं वा निसीयंतं वा तुयट्टंतं वा न समणुजाणेज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि। तस्स भंते! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि। (४।सू०२२)

७२—तसकायं न हिंसंति
मणसा वयसा कायसा।
तिविहेण करणजोएण
संजया सुसमाहिया॥ (६।४३)

७३—तसकायं विहिंसंतो
हिंसई उ तयस्सिए।
तसे य विविहे पाणे
चक्खुसे य अचक्खुसे॥ (६।४४)

न खड़ा रहे, न बैठे, न सोए; दूसरों को न चलाए, न खड़ा करे, न बैठाए, न सुलाए और चलने, खड़ा रहने, बैठने या सोने वाले का अनुमोदन न करे, यावज्जीवन के लिए तीन करण, तीन योग से—मन से, वचन से, काया से—न करूँगा, न कराऊंगा और करने वाले का अनुमोदन भी नहीं करूंगा।

भंते! मैं अतीत के वनस्पति-समारम्भ से निवृत्त होता हूँ, उसकी निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ। (४।सू०२२)

७२—सुसमाहित संयमी मन, वचन, काया—इस त्रिविध करण तथा कृत, कारित और अनुमोदित—इस त्रिविध योग से त्रसकाय की हिंसा नहीं करते। (६।४३)

७३—त्रसकाय की हिंसा करता हुआ उसके आश्रित अनेक प्रकार के चाक्षुष (दृश्य), अचाक्षुष (अदृश्य) त्रस और स्थावर प्राणियों की हिंसा करता है। (६।४४)

७४—तम्हा एवं वियाणित्ता
दोसं दुग्गइ - वड्ढणं ।
तसकाय - समारंभं
जावज्जीवाए वज्जए ॥ (६।४५)

७५—से भिक्खू वा भिक्खुणी वा संजय-विरय-पडिहय-पच्चक्खाय-पावकम्मे, दिया वा राओ वा एगओ वा परिसागओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा—से कीडं वा पयंगं वा कुंथुं वा पिवीलियं वा हत्थंसि वा पायंसि वा बाहुंसि वा ऊरुंसि वा उदरंसि वा सीसंसि वा वत्थंसि वा पडिग्गहंसि वा रयहरणंसि वा गोच्छगंसि वा उंडगंसि वा दंडगंसि वा पीढगंसि वा फलगंसि वा सेज्जंसि वा संथारगंसि वा अन्नयरंसि वा तहप्पगारे उवगरणजाए तओ संजयामेव पडिलेहिय-पडिलेहिय पमज्जिय-पमज्जिय एगंतमवणेज्जा नो णं संघायमावज्जेज्जा ।
(४।सू०२३)

७४—इसलिए इसे दुर्गति-वर्धक दोष जानकर मुनि जीवन-पर्यन्त त्रसकाय के समारम्भ का वर्जन करे। (६।४५)

७५—संयत-विरत-प्रतिहत-प्रत्याख्यात-पापकर्मा भिक्षु अथवा भिक्षुणी, दिन में या रात में, सोते या जागते, एकान्त में या परिषद् में—कीट, पतंग, कुंथु, या पिपीलिका हाथ, पैर, बाहु, ऊरु, उदर, सिर, वस्त्र, पात्र, रजोहरण, गोच्छग, उन्दक (स्थण्डिल पात्र), दण्डक, पीठ, फलक, शय्या या संस्तारक पर तथा उसी प्रकार के किसी अन्य उपकरण पर चढ़ जाए तो सावधानी पूर्वक धीमे-धीमे प्रतिलेखन कर, प्रमार्जन कर, उन्हें वहाँ से हटा एकान्त में रख दे किन्तु उनका संघात न करे—आपस में एक दूसरे प्राणी को पीड़ा पहुँचे, वैसे न रखे। (४।सू० २३)

१२ : सच्च

७६—अप्पणट्ठा परट्ठा वा
कोहा वा जइ वा भया ।
हिंसगं न मुसं बूया
नो वि अन्नं वयावए ॥ (६।११)

७७—मुसावाओ य लोगम्मि
सव्वसाहूहिं गरहिओ ।
अविस्सासो य भूयाणं
तम्हा मोसं विवज्जए ॥ (६।१२)

१२ : सत्य

७६—निर्ग्रन्थ अपने या दूसरों के लिए, क्रोध से या भय से पीड़ाकारक सत्य और असत्य न बोले, न दूसरों से बुलवाए। (६।११)

७७—इस समूचे लोक में मृषावाद सब साधुओं द्वारा गर्हित है और वह प्राणियों के लिए अविश्वसनीय है। अतः निर्ग्रन्थ असत्य न बोले। (६।१२)

१३ : अचोरिअ

७८—चित्तमंतमचित्तं वा
अप्पं वा जइ वा बहुं ।
दंतसोहणमेत्तं पि
ओग्गहंसि अजाइया ॥ (६।१३)

७९—तं अप्पणा न गेण्हंति
नो वि गेण्हावए परं ।
अन्नं वा गेण्हमाणं पि
नाणुजाणंति संजया ॥ (६।१४)

१३ : अस्तेय

७८—संयमी मुनि सजीव या निर्जीव, अल्प या बहुत दन्तशोधन मात्र वस्तु का भी उसके अधिकारी की आज्ञा लिए बिना—(६।१३)

७९—स्वयं ग्रहण नहीं करता, दूसरों से ग्रहण नहीं कराता *और ग्रहण करने वाले का अनुमोदन भी नहीं करता।* (६।१४)

१४ : बंभचरे

८०—अबंभचरियं घोरं
पमायं दुरहिट्ठियं ।
नायरंति मुणी लोए
मेयाययणवज्जिणो ॥ (६।१५)

८१—मूलमेयमहम्मस्स
महादोस - समुस्सयं ।
तम्हा मेहुण-संसग्गि
निग्गंथा वज्जयंति णं ॥ (६।१६)

८२—विवित्ता य भवे सेज्जा
नारीणं न लवे कहं ।
गिहि-संथवं न कुज्जा
कुज्जा साहूहिं संथवं ॥ (८।५२)

१४ : ब्रह्मचर्य

८०—अब्रह्मचर्य लोक में घोर, प्रमाद और घृणा प्राप्त कराने वाला है। चरित्र-भंग के स्थान से बचने वाले मुनि उसका आसेवन नहीं करते। (६।१५)

८१—यह अब्रह्मचर्य अधर्म का मूल और महान् दोषों की राशि है। इसलिए निर्ग्रन्थ मैथुन के संसर्ग का वर्जन करते हैं। (६।१६)

८२—मुनि एकान्त स्थान हो वहाँ केवल स्त्रियों के बीच व्याख्यान न दे, गृहस्थों से संस्तव न करे, संस्तव साधुओं से करे। (८।५२)

८३—जहा कुक्कुड-पोयस्स
निच्चं कुललओ भयं ।
एवं खु बंभयारिस्स
इत्थी-विग्गहओ भयं ॥ (८।५३)

८४—चित्त-भित्तिं न निज्झाए
नारिं वा सुअलंकियं ।
भक्खरं पिव दट्ठूणं
दिट्ठिं पडिसमाहरे ॥ (८।५४)

८५—हत्थ-पाय - पडिच्छिन्नं
कण्ण - नास - विगप्पियं ।
अवि वाससइं नारिं
बंभयारी विवज्जए ॥ (८।५५)

८६—विभूसा इत्थि-संसग्गी
पणीय - रसभोयणं ।
नरस्सत्त - गवेसिस्स
विसं तालउडं जहा ॥ (८।५६)

८३—जिस प्रकार मुर्गे के बच्चे को सदा बिल्ली से भय होता है, उसी प्रकार ब्रह्मचारी को स्त्री के शरीर से भय होता है। (८।५३)

८४—चित्र-भित्ति (स्त्रियों के चित्रों से चित्रित भित्ति) या आभूषणों से सुसज्जित स्त्री को टकटकी लगाकर न देखे। उन पर दृष्टि पड़ जाए तो उसे वैसे खींच ले जैसे मध्याह्न के सूर्य पर पड़ी हुई दृष्टि स्वयं खिंच जाती है। (८।५४)

८५—जिसके हाथ-पैर कटे हुए हों, जो कान-नाक से विकल हो और जो सौ वर्ष की बूढ़ी हो उस नारी से भी ब्रह्मचारी दूर रहे। (८।५५)

८६—आत्म-गवेषी पुरुष के लिए विभूषा, स्त्री का संसर्ग और प्रणीत-रस का भोजन तालपुट-विष के समान है। (८।५६)

८७—अंग - पच्चंग - संठाणं
चारुल्लवियपेहियं ।
इत्थीणं तं न निज्झाए
काम - राग - विवड्ढणं ॥ (८।५७)

८८—न चरेज्ज वेस-सामंते
बंभचेर - वसाणुए ।
बंभयारिस्स दंतस्स
होज्जा तत्थ विसोत्तिया ॥ (५।१।९)

८९—अणायणे चरंतस्स
संसग्गीए अभिक्खणं ।
होज्ज वयाणं पीला
सामण्णम्मि य संसओ ॥ (५।१।१०)

९०—तम्हा एयं वियाणित्ता
दोसं दुग्गइ-वड्ढणं ।
वज्जए वेस-सामंतं
मुणी एगंतमस्सिए ॥ (५।१।११)

८७—स्त्रियों के अंग, प्रत्यंग, संस्थान, चारु-भाषण (मधुर बोली) और कटाक्ष को न देखे—उनकी ओर ध्यान न दे, क्योंकि ये सब काम-राग को बढ़ाने वाले हैं। (८।५७)

८८—ब्रह्मचर्य का वशवर्ती मुनि वेश्या-बाड़े के समीप न जाय। वहाँ दान्त ब्रह्मचारी के भी विस्रोतसिका हो सकती है—साधना का स्रोत मुड़ सकता है। (५।१।९)

८९—अस्थान में बार-बार जाने वाले के (वेश्याओं का) संसर्ग होने के कारण व्रतों की पीड़ा (विनाश) और श्रामण्य में सन्देह हो सकता है। ५।१।१०)

९०—इसलिए इसे दुर्गति बढ़ाने वाला दोष जानकर एकान्त (मोक्ष-मार्ग) का अनुगमन करने वाला मुनि (वेश्या-बाड़े) के समीप न जाय। (५।१।११)

१५ : अपरिग्गह

६१—बिडमुब्भेइमं लोणं
तेल्लं सप्पिं च फाणियं ।
न ते सन्निहिमिच्छन्ति
नायपुत्त - वओ - रया ॥ (६।१७)

६२—लोभस्सेसो अणुफासो
मन्ने अन्नयरामवि ।
जे सिया सन्निहीकामे
गिही पव्वइए न से ॥ (६।१८)

६३—जं पि वत्थं व पायं वा
कंबलं पाय - पुंछणं ।
तं पि संजम-लज्जट्ठा
धारंति परिहरंति य ॥ (६।१९)

१५ : अपरिग्रह

९१—जो महावीर के वचन में रत हैं, वे मुनि बिड-लवण, सामुद्र-लवण, तैल, घी और द्रव-गुड़ का संग्रह करने की इच्छा नहीं करते। (६।१७)

९२—जो कुछ भी संग्रह किया जाता है वह लोभ का ही प्रभाव है—ऐसा मैं मानता हूँ। जो श्रमण सन्निधि का कामी है वह गृहस्थ है, प्रव्रजित नहीं है। (६।१८)

९३—जो भी वस्त्र, पात्र, कम्बल और रजोहरण हैं, उन्हें मुनि संयम और लज्जा की रक्षा के लिए ही रखते और उनका उपयोग करते हैं। (६।१९)

९४—न सो परिग्गहो वुत्तो
नायपुत्तेण ताइणा ।
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो
इइ वुत्तं महेसिणा ॥ (६।२०)

९५—सव्वत्थुवहिणा बुद्धा
संरक्खण - परिग्गहे ।
अवि अप्पणो वि देहम्मि
नायरंति ममाइयं ॥ (६।२१)

९६—न पडिन्नवेज्जा सयणासणाइं
सेज्जं निसेज्जं तह भत्तपाणं ।
गामे कुले वा नगरे व देसे
ममत्त-भावं न कहिं चि कुज्जा ॥ (चू०२।८)

६४—सब जीवों के त्राता महावीर ने वस्त्र आदि को परिग्रह नहीं कहा है, मूर्च्छा को परिग्रह कहा है—ऐसा महर्षि (गणधर) ने कहा है। (६।२०)

६५—सब काल और सब क्षेत्रों में तीर्थङ्कर उपधि (एकदूष्य वस्त्र) के साथ प्रव्रजित होते हैं। प्रत्येक बुद्ध, जिन-कल्पिक आदि भी संयम की रक्षा के निमित्त उपधि (रजोहरण, मुख-वस्त्र आदि) ग्रहण करते हैं। वे उपधि पर तो क्या अपने शरीर पर भी ममत्व नहीं करते। (६।२१)

६६—साधु विहार करते समय गृहस्थ को ऐसी प्रतिज्ञा न दिलाए कि यह शयन, आशन, उपाश्रय, स्वाध्याय-भूमि जब मैं लौटकर आऊं तब मुझे ही देना। इसी प्रकार भक्त-पान मुझे ही देना—यह प्रतिज्ञा भी न कराए। गाँव, कुल, नगर या देश में—कहीं भी ममत्व भाव न करे। (चू० २।८)

१६ : दिक्खा-संकप्प-सुत्त

६७—पढमे भंते ! महव्वए पाणाइवायाओ वेरमणं सव्वं भंते ! पाणाइवायं पच्चक्खामि—से सुहुमं वा बायरं वा तसं वा थावरं वा, नेव सयं पाणे अइवायेज्जा नेवन्नेहिं पाणे अइवायावेज्जा पाणे अइवायंते वि अन्ने न समणुजाणेज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि। तस्स भंते ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि।

पढमे भंते ! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमणं। (४।सू०११)

६८—अहावरे दोच्चे भंते ! महव्वए मुसावायाओ वेरमणं सव्वं भंते ! मुसावायं पच्चक्खामि—

१६ : दीक्षा-संकल्प-सूत्र

६७—भन्ते! पहले महाव्रत में प्राणातिपात से विरमण होता है।

भन्ते! मैं सर्व प्राणातिपात का प्रत्याख्यान करता हूँ। सूक्ष्म या स्थूल, त्रस या स्थावर जो भी प्राणी हैं, उनके प्राणों का अतिपात मैं स्वयं नहीं करूँगा, दूसरों से नहीं कराऊँगा और अतिपात करने वालों का अनुमोदन भी नहीं करूँगा, यावज्जीवन के लिए तीन करण, तीन योग से—मन से, वचन से, काया से—न करूँगा, न कराऊँगा और करने वाले का अनुमोदन भी नहीं करूँगा।

भन्ते! मैं अतीत में किये प्राणातिपात से निवृत्त होता हूँ, उसकी निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ।

भन्ते! मैं पहले महाव्रत में प्राणातिपात की विरति के लिए उपस्थित हुआ हूँ। (४।सू०११)

६८—भन्ते! इसके पश्चात् दूसरे महाव्रत में मृषावाद की विरति होती है।

भन्ते! मैं सर्व मृषावाद का प्रत्याख्यान करता हूँ।

से कोहा वा लोहा वा भया वा हासा वा, नेव सयं मुसं वएज्जा नेवन्नेहिं मुसं वायावेज्जा मुसं वयंते वि अन्ने न समणुजाणेज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि । तस्स भंते ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि ।

दोच्चे भंते ! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ मुसावायाओ वेरमणं । (४।सू०१२)

६६—अहावरे तच्चे भंते ! महव्वए अदिन्नादाणाओ वेरमणं सव्वं भंते ! अदिन्नादाणं पच्चक्खामि —से गामे वा नगरे वा रण्णे वा अप्पं वा बहुं वा अणुं वा थूलं वा चित्तमंतं वा अचित्तमंतं वा, नेव सयं अदिन्नं गेण्हेज्जा नेवन्नेहिं अदिन्नं गेण्हावेज्जा अदिन्नं गेण्हंते वि अन्ने न समणुजाणेज्जा जावज्जीवाए

क्रोध से या लोभ से, भय से या हँसी से, मैं स्वयं असत्य नहीं बोलूंगा, दूसरों से असत्य नहीं बोलवाऊँगा और असत्य बोलने वालों का अनुमोदन भी नहीं करूँगा, यावज्जीवन के लिए तीन करण, तीन योग से—मन से, वचन से, काया से—न करूँगा, न कराऊँगा और करने वाले का अनुमोदन भी नहीं करूँगा।

भन्ते ! मैं अतीत के मृषावाद से निवृत्त होता हूँ, उसकी निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ।

भंते ! मैं दूसरे महाव्रत में मृषावाद की विरति के लिए उपस्थित हुआ हूँ। (४।सू०१२)

६६—भंते ! इसके पश्चात् तीसरे महाव्रत में अदत्तादान की विरति होती है।

भंते ! मैं सर्व अदत्तादान का प्रत्याख्यान करता हूँ। गाँव में, नगर में या अरण्य में—कहीं भी अल्प या बहुत, सूक्ष्म या स्थूल, सचित्त या अचित्त किसी भी अदत्त-वस्तु का मैं स्वयं ग्रहण नहीं करूँगा, दूसरों से अदत्त-वस्तु का ग्रहण नहीं कराऊंगा और अदत्त-वस्तु ग्रहण करने वालों का अनुमोदन भी नहीं करूँगा, यावज्जीवन के लिए

तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि। तस्स भंते! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि।

तच्चे भंते! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ अदिन्नादाणाओ वेरमणं। (४।सू०१३)

१००—अहावरे चउत्थे भंते! महव्वए मेहुणाओ वेरमणं सव्वं भंते! मेहुणं पच्चक्खामि—से दिव्वं वा माणुसं वा तिरिक्खजोणियं वा, नेव सयं मेहुणं सेवेज्जा नेवन्नेहिं मेहुणं सेवावेज्जा मेहुणं सेवंते वि अन्ने न समणुजाणेज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं

तीन करण, तीन योग से—मन से, वचन से, काया से—न करूंगा, न कराऊँगा और करने वाले का अनुमोदन भी नहीं करूंगा।

भंते ! मैं अतीत के अदत्तादान से निवृत्त होता हूँ उसकी निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ।

भंते ! मैं तीसरे महाव्रत में सर्व अदत्तादान की विरति के लिए उपस्थित हुआ हूँ। (४।सू०१३)

१००—भंते ! इसके पश्चात् चौथे महाव्रत में मैथुन की विरति होती है।

भंते ! मैं सब प्रकार के मैथुन का प्रत्याख्यान करता हूँ। देव सम्बन्धी, मनुष्य सम्बन्धी अथवा तिर्यंच सम्बन्धी मैथुन का मैं स्वयं सेवन नहीं करूँगा, दूसरों से मैथुन-सेवन नहीं कराऊँगा और मैथुन-सेवन करने वालों का अनुमोदन भी नहीं करूँगा, यावज्जीवन के लिए तीन करण, तीन योग से—मन से, वचन से, काया से—

न करेमि न कारवेमि करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि। तस्स भंते! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि।

चउत्थे भंते! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ मेहुणाओ वेरमणं। (४।सू०१४)

१०१—अहावरे पंचमे भंते! महव्वए परिग्गहाओ वेरमणं सव्वं भंते! परिग्गहं पच्चक्खामि —से गामे वा नगरे वा रण्णे वा अप्पं वा बहुं वा अणुं वा थूलं वा चित्तमंतं वा अचित्तमंतं वा, नेव सयं परिग्गहं परिगेण्हेज्जा नेवन्नेहिं परिग्गहं परिगेण्हावेज्जा परिग्गहं परिगेण्हंते वि अन्ने न समणुजाणेज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न

मैथुन सेवन न करूँगा, न कराऊँगा और करने वाले का अनुमोदन भी नहीं करूँगा।

भंते! मैं अतीत के मैथुन-सेवन से निवृत्त होता हूँ, उसकी निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ।

भंते! मैं चौथे महाव्रत में सर्व मैथुन की विरति के लिए उपस्थित हुआ हूँ। (४।सू०१४)

१०१—भंते! इसके पश्चात् पाँचवें महाव्रत में परिग्रह की विरति होती है।

भंते! मैं सब प्रकार के परिग्रह का प्रत्याख्यान करता हूँ। गाँव में, नगर में या अरण्य में—कहीं भी अल्प या बहुत, सूक्ष्म या स्थूल, सचित्त या अचित्त किसी भी परिग्रह का ग्रहण मैं स्वयं नहीं करूँगा, दूसरों से परिग्रह का ग्रहण नहीं कराऊँगा और परिग्रह का ग्रहण करने वालों का अनुमोदन भी नहीं करूँगा, यावज्जीवन के लिए तीन करण, तीन योग से—मन से, वचन से, काया से—न करूँगा, न

कारवेमि करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि। तस्स भंते! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि।

पंचमे भंते! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ परिग्गहाओ वेरमणं। (४।सू० १५)

१०२—अहावरे छट्ठे भंते! वए राईभोयणाओ वेरमणं सव्वं भंते! राईभोयणं पच्चक्खामि —से असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा, नेव सयं राइं भुंजेज्जा नेवन्नेहिं राइं भुंजावेज्जा राइं भुंजंते वि अन्ने न समणुजाणेज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि। तस्स भंते! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि।

कराऊँगा और करने वालों का अनुमोदन भी नहीं करूँगा।

भंते ! मैं अतीत के परिग्रह से निवृत्त होता हूँ, उसकी निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ।

भंते ! मैं पाँचवें महाव्रत में सर्व परिग्रह की विरति के लिए उपस्थित हुआ हूँ। (४।सू० १५)

१०२—भंते ! इसके पश्चात् छठे व्रत में रात्रि-भोजन की विरति होती है।

भंते ! मैं सब प्रकार के रात्रि-भोजन का प्रत्याख्यान करता हूँ। अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य—किसी भी वस्तु को रात्रि में मैं स्वयं नहीं खाऊँगा, दूसरों को नहीं खिलवाऊँगा और खाने वालों का अनुमोदन भी नहीं करूँगा, यावज्जीवन के लिए तीन करण, तीन योग से—मन से, वचन से, काया से—न करूँगा, न कराऊँगा और करने वाले का अनुमोदन भी नहीं करूँगा।

भंते ! मैं अतीत के रात्रि-भोजन से निवृत्त होता हूँ, उसकी निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ।

छट्ठे भंते ! वए उवट्ठिओमि सव्वाओ
राईभोयणाओ वेरमणं । (४।सू० १६)

१०३—इच्चेयाइं पंच महव्वयाइं राईभोयण
वेरमण छट्ठाइं अत्तहियट्ठयाए उवसंपज्जित्ताणं
विहरामि । (४।सू० १७)

भंते! मैं छठे व्रत में सर्व रात्रि-भोजन की विरति के लिए उपस्थित हुआ हूँ। (४।सू०१६)

१०३—मैं इन पाँच महाव्रतों और रात्रि-भोजन-विरति रूप छठे व्रत को आत्महित के लिए अंगीकार कर विहार करता हूँ। (४।सू०१७)

१७ : अजयणा-जयणा

१०४—अजयं चरमाणो उ
पाण-भूयाइं हिंसई ।
बंधई पावयं कम्मं
तं से होइ कडुयं-फलं ॥ (४।१)

१०५—अजयं चिट्ठमाणो उ
पाण-भूयाइं हिंसई ।
बंधई पावयं कम्मं
तं से होइ कडुयं-फलं ॥ (४।२)

१०६—अजयं आसमाणो उ
पाण-भूयाइं हिंसई ।
बंधई पावयं कम्मं
तं से होइ कडुयं-फलं ॥ (४।३)

१७ : अयतना और यतना

१०४—अयतनापूर्वक चलने वाला त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा करता है। उससे पाप-कर्म का बंध होता है। वह उसके लिए कटु-फल वाला होता है। (४।१)

१०५—अयतनापूर्वक खड़ा होने वाला त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा करता है। उससे पाप-कर्म का बंध होता है। वह उसके लिए कटु-फल वाला होता है। (४।२)

१०६—अयतनापूर्वक बैठने वाला त्रस और स्थाबर जीवों की हिंसा करता है। उससे पाप-कर्म का बंध होता है। वह उसके लिए कटु-फल वाला होता है। (४।३)

१०७—अजयं सयमाणो उ
पाण-भूयाइं हिंसई ।
बंधई पावयं कम्मं
तं से होइ कडुयं-फलं ॥ (४।४)

१०८—अजयं भुंजमाणो उ
पाण-भूयाइं हिंसई ।
बंधई पावयं कम्मं
तं से होइ कडुयं-फलं ॥ (४।५)

१०९—अजयं भासमाणो उ
पाण-भूयाइं हिंसई ।
बंधई पावयं कम्मं
तं से होइ कडुयं-फलं ॥ (४।६)

११०—कहं चरे ? कहं चिट्ठे ?
कहमासे ? कहं सए ? ।
कहं भुंजंतो भासंतो
पावं कम्मं न बंधई ? ॥ (४।७)

१०७—अयतनापूर्वक सोने वाला त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा करता है। उससे पाप-कर्म का बंध होता है। वह उसके लिए कटु-फल वाला होता है। (४।४)

१०८—अयतनापूर्वक भोजन करने वाला त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा करता है। उससे पाप-कर्म का बंध होता है। वह उसके लिए कटु-फल वाला होता है। (४।५)

१०९—अयतनापूर्वक बोलने वाला त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा करता है। उससे पाप-कर्म का बंध होता है। वह उसके लिए कटु-फल वाला होता है। (४।६)

११०—कैसे चले, कैसे खड़ा हो, कैसे बैठे, कैसे सोए, कैसे खाए, कैसे बोले—जिससे पाप-कर्म का बन्धन न हो ? (४।७)

१११—जयं चरे जयं चिट्ठे
जयमासे जयं सए ।
जयं भुंजंतो भासंतो
पावं कम्मं न बंधई ॥ (४।८)

११२—सव्वभूयप्पभूयस्स
सम्मं भूयाइ पासओ ।
पिहियासवस्स दंतस्स
पावं कम्मं न बंधई ॥ (४।६)

११३—अट्ठ सुहुमाइं पेहाए
जाइं जाणित्तु संजए ।
दयाहिगारी भूएसु
आस चिट्ठ सएहि वा ॥ (८।१३)

११४—कयराइं अट्ठ सुहुमाइं
जाइं पुच्छेज्ज संजए ।
इमाइं ताइं मेहावी
आइक्खेज्ज वियक्खणो ॥ (८।१४)

१११—यतनापूर्वक चलने, यतनापूर्वक खड़ा होने, यतनापूर्वक बैठने, यतनापूर्वक सोने, यतनापूर्वक खाने और यतनापूर्वक बोलने वाला पाप-कर्म का बन्धन नहीं करता। (४।८)

११२—जो सब जीवों को आत्मवत् मानता है, जो सब जीवों को सम्यक्-दृष्टि से देखता है, जो आस्रव का निरोध कर चुका है और जो दान्त है उसको पाप-कर्म का बन्धन नहीं होता। (४।९)

११३—संयमी मुनि आठ प्रकार के सूक्ष्म जीवों को देख कर बैठे, खड़ा हो और सोए। इन सूक्ष्म जीवों को जानने पर ही कोई सब जीवों पर दया करने का अधिकारी होता है। (८।१३)

११४—वे आठ सूक्ष्म कौन-कौन से हैं? संयमी शिष्य यह पूछे तब मेधावी और विचक्षण आचार्य कहे कि वे ये हैं (८।१४)—

११५—सिणेहं पुप्फसुहुमं च
पाणुत्तिंगं तहेव य ।
पणगं बीय हरियं च
अंडसुहुमं च अट्ठमं ॥ (८।१५)

११६—एवमेयाणि जाणित्ता
सव्वभावेण संजए ।
अप्पमत्तो जए निच्चं
सव्विंदियसमाहिए ॥ (८।१६)

११७—धुवं च पडिलेहेज्जा
जोगसा पाय-कंबलं ।
सेज्जमुच्चार-भूमिं च
संथारं अदुवासणं ॥ (८।१७)

११८—उच्चारं पासवणं
खेलं सिंघाण-जल्लियं ।
फासुयं पडिलेहित्ता
परिट्ठावेज्ज संजए ॥ (८।१८)

११५—स्नेह, पुष्प, प्राणी, उत्तिंग, काई, बीज, हरित और अण्ड—ये आठ प्रकार के सूक्ष्म हैं। (८।१५)

११६—सब इन्द्रियों से समाहित साधु इस प्रकार इन सूक्ष्म जीवों को सब प्रकार से जान कर अप्रमत्त-भाव से नित्य यतना करे। (८।१६)

११७—मुनि पात्र, कम्बल, शय्या, उच्चार-भूमि, संस्तारक अथवा आसन का यथासमय प्रमाणोपेत प्रतिलेखन करे। (८।१७)

११८—संयमी मुनि प्रासुक (जीव-रहित) भूमि का प्रतिलेखन कर वहाँ उच्चार, प्रस्रवण, श्लेष्म, नाक की मैल और शरीर की मैल का उत्सर्ग करे। (८।१८)

१८ : कहं चरे ?

११९—पुरओ जुग-मायाए
पेहमाणो महिं चरे ।
वज्जंतो बीय-हरियाइं
पाणे य दगमट्टियं ॥ (५।१।३)

१२०—ओवायं विसमं खाणुं
विज्जलं परिवज्जए ।
संकमेण न गच्छेज्जा
विज्जमाणे परक्कमे ॥ (५।१।४)

१२१—पवडंते व से तत्थ
पक्खलंते व संजए ।
हिंसेज्ज पाण-भूयाइं
तसे अदुव थावरे ॥ (५।१।५)

१८ : कैसे चले ?

११९—आगे युग-प्रमाण भूमि को देखता हुआ और बीज, हरियाली, प्राणी, जल तथा सजीव मिट्टी को टालता हुआ चले। (५।१।३)

१२०—दूसरे मार्ग के होते हुए गड्ढे, ऊबड़-खाबड़ भू-भाग, कटे हुए सूखे पेड़ या अनाज के डंठल और पंकिल मार्ग को टाले तथा संक्रम[1] के ऊपर से न जाए। (५।१।४)

१२१—वहाँ गिरने या लड़खड़ा जाने से वह संयमी प्राणी-भूतों—त्रस अथवा स्थावर जीवों की हिंसा करता है। (५।१।५)

१—जल या गड्ढे को पार करने के लिए काष्ठ या पाषाण रचित पुल।

१२२—तम्हा तेण न गच्छेज्जा
संजए सुसमाहिए ।
सइ अन्नेण मग्गेण
जयमेव परक्कमे ॥ (५।१।६)

१२३—अणुन्नए नावणए
अप्पहिट्ठे अणाउले ।
इंदियाणि जहा-भागं
दमइत्ता मुणी चरे ॥ (५।१।१३)

१२४—दवदवस्स न गच्छेज्जा
भासमाणो य गोयरे ।
हसंतो नाभिगच्छेज्जा
कुलं उच्चावयं सया ॥ (५।१।१४)

१२५—आलोयं थिग्गलं दारं
संधिं दग-भवणाणि य ।
चरंतो न विणिज्झाए
संकट्ठाणं विवज्जए ॥ (५।१।१५)

१२२—इसलिए दूसरे मार्ग के होते हुए सुसमाहित संयमी उक्त मार्ग से न जाय। यदि दूसरा मार्ग न हो तो यतना-पूर्वक जाय। (५।१।६)

१२३—मुनि न उन्नत हो कर—ऊँचा मुँह कर, न अवनत हो कर, न हृष्ट हो कर, न आकुल हो कर (किन्तु) इन्द्रियों का उनके विषयों के अनुसार दमन कर चले। (५।१।१३)

१२४—उच्च-नीच कुल में गोचरी को जाता हुआ मुनि दौड़ता हुआ न चले, बोलता और हँसता हुआ न चले। (५।१।१४)

१२५—मुनि चलते समय आलोक (झरोखा), थिग्गल[१], द्वार, संधि[२] और पानी-घर को न देखे। शंका उत्पन्न करने वाले स्थानों से बचता रहे। (५।१।१५)

१—घर का वह द्वार जो किसी कारणवश फिर से चिना हुआ हो।
२—दो घरों की बीच की गली।

१२६—होज्ज कट्ठं सिलं वा वि
इट्टालं वा वि एगया ।
ठवियं संकमट्ठाए
तं च होज्ज चलाचलं ॥ (५।१।६५)

१२७—न तेण भिक्खू गच्छेज्जा
दिट्ठो तत्थ असंजमो ।
गंभीरं झुसिरं चेव
सव्विंदियसमाहिए ॥ (५।१।६६)

१२८—इंगालं छारियं रासिं
तुसरासिं च गोमयं ।
ससरक्खेहिं पाएहिं
संजओ तं न अक्कमे ॥ (५।१।७)

१२९—तहेवुच्चावया पाणा
भत्तट्ठाए समागया ।
त-उज्जुयं न गच्छेज्जा
जयमेव परक्कमे ॥ (५।२।७)

१२६—यदि कभी काठ, शिला या ईंट के टुकड़े संक्रमण के लिए रखे हुए हों और वे चलाचल हों तो—(५।१।६५)

१२७—सर्वेन्द्रिय-समाहित भिक्षु उन पर होकर न जाए। इसी प्रकार वह प्रकाश-रहित और पोली भूमि पर से न जाए। भगवान् ने वहाँ असंयम देखा है। (५।१।६६)

१२८—संयमी मुनि सचित्त-रज से भरे हुए पैरों से कोयले, राख, भूसे और गोबर के ढेर के ऊपर होकर न जाय। (५।१।७)

१२९—इसी प्रकार नाना प्रकार के प्राणी भोजन के निमित्त एकत्रित हों, उनके सम्मुख न जाए। उन्हें त्रास न देता हुआ यतनापूर्वक जाय। (५।२।७)

१६ : कहं भुंजे ?

१३०—सिया य गोयरग्ग गओ
इच्छेज्जा परिभोत्तुयं ।
कोट्ठगं भित्ति-मूलं वा
पडिलेहित्ताण फासुयं ॥ (५।१।८२)

१३१—अणुन्नवेत्तु मेहावी
पडिच्छन्नम्मि संवुडे ।
हत्थगं संपमज्जित्ता
तत्थ भुंजेज्ज संजए ॥ (५।१।८३)

१३२—तत्थ से भुंजमाणस्स
अट्ठियं कंटओ सिया ।
तण-कट्ठ-सक्करं वा वि
अन्नं वा वि तहाविहं ॥ (५।१।८४)

१६ : कैसे खाये ?

१३०—गोचराग्र के लिए गया हुआ मुनि कदाचित् आहार करना चाहे तो प्रासुक कोष्ठक या भित्ति-मूल को देखकर—(५।१।८२)

१३१—उसके स्वामी की अनुज्ञा लेकर छाए हुए एवं संवृत्त स्थल में बैठे। हस्तक से शरीर का प्रमार्जन कर मेधावी संयति वहाँ भोजन करे। (५।१।८३)

१३२—वहाँ भोजन करते हुए मुनि के आहार में गुठली, कांटा, तिनका, काठ का टुकड़ा, कंकड़ या इसी प्रकार की कोई दूसरी वस्तु निकले तो—(५।१।८४)

१३३—तं उक्खिवित्तु न निक्खिवे
आसएण न छड्डए ।
हत्थेण तं गहेऊणं
एगंतमवक्कमे ॥ (५।१।८५)

१३४—एगंतमवक्कमित्ता
अचित्तं पडिलेहिया ।
जयं परिट्ठवेज्जा
परिट्ठप्प पडिक्कमे ॥ (५।१।८६)

१३५—सिया य भिक्खू इच्छेज्जा
सेज्जमागम्म भोत्तुयं ।
सपिंडपायमागम्म
उंडुयं पडिलेहिया ॥ (५।१।८७)

१३६—विणएण पविसित्ता
सगासे गुरुणो मुणी ।
इरियावहियमायाय
आगओ य पडिक्कमे ॥ (५।१।८८)

१३३—उसे उठाकर न फेंके, मुँह से न थूके, किन्तु हाथ में लेकर एकान्त में चला जाए। (५।१।८५)

१३४—एकान्त में जा अचित्त भूमि को देख यतना-पूर्वक उसे परिस्थापित करे। परिस्थापित करने के पश्चात् स्थान में आकर प्रतिक्रमण करे। (५।१।८६)

१३५—कदाचित् भिक्षु शय्या (उपाश्रय) में आकर भोजन करना चाहे तो भिक्षा-सहित वहाँ आकर स्थान की प्रतिलेखना करे (५।१।८७)

१३६—उसके पश्चात् विनय-पूर्वक उपाश्रय में प्रवेश कर गुरु के समीप उपस्थित हो 'एर्यापथिकी' सूत्र को पढ़कर प्रतिक्रमण (कायोत्सर्ग) करे। (५।१।८८)

१३७—आभोएत्ताण नीसेसं
अइयारं जहक्कमं ।
गमणागमणे चेव
भत्त-पाणे व संजए ॥ (५।१।८६)

१३८—उज्जुप्पन्नो अणुव्विग्गो
अव्वक्खित्तेण चेयसा ।
आलोए गुरुसगासे
जं जहा गहियं भवे ॥ (५।१।६०)

१३६—न सम्ममालोइयं होज्जा
पुव्विं पच्छा व जं कडं ।
पुणो पडिक्कमे तस्स
वोसट्ठो चिंतए इमं ॥ (५।१।६१)

१४०—अहो जिणेहिं असावज्जा
वित्ती साहूण देसिया ।
मोक्ख-साहण-हेउस्स
साहुदेहस्स धारणा ॥ (५।१।६२)

१३७—आने-जाने में और भक्त-पान लेने में लगे समस्त अतिचारों को यथाक्रम याद कर—(५।१।८६)

१३८—ऋजु-प्रज्ञ, अनुद्विग्न संयति व्याक्षेप-रहित चित्त से गुरु के समीप आलोचना करे। जिस प्रकार से भिक्षा ली हो, उसी प्रकार से गुरु को कहे। (५।१।९०)

१३९—सम्यक् प्रकार से आलोचना न हुई हो अथवा पहले-पीछे की हो (आलोचना का क्रम-भंग हुआ हो) उसका फिर प्रतिक्रमण करे, शरीर को स्थिर बना यह चिन्तन करे—(५।१।९१)

१४०—आश्चर्य है—जिन भगवान् ने साधुओं की मोक्ष-साधना के हेतु-भूत संयमी शरीर की धारणा के लिए निरवद्य वृत्ति का उपदेश किया है। (५।१।९२)

१४१—नमोक्कारेण पारेत्ता
करेत्ता जिण - संथवं ।
सज्झायं पट्ठवेत्ताणं
वीसमेज्ज खणं मुणी ।। (५।१।९३)

१४२—वीसमंतो इमं चिंते
हियमट्ठं लाभमट्ठिओ ।
जइ मे अणुग्गहं कुज्जा
साहू होज्जामि तारिओ ।। (५।१।९४)

१४३—साहवो तो चियत्तेणं
निमंतेज्ज जहक्कमं ।
जइ तत्थ केइ इच्छेज्जा
तेहिं सद्धिं तु भुंजए ।। (५।१।९५)

१४४—अह कोइ न इच्छेज्जा
तओ भुंजेज्ज एक्कओ ।
आलोए भायणे साहू
जयं अपरिसाडयं ।। (५।१।९६)

१४१—इस चिन्तनमय कायोत्सर्ग को नमस्कार-मन्त्र के द्वारा पूर्ण कर जिन-संस्तव (तीर्थङ्कर-स्तुति) करे, फिर स्वाध्याय की प्रस्थापना (प्रारम्भ) कर क्षण भर विश्राम ले। (५।१।९३)

१४२—विश्राम करता हुआ लाभार्थी (मोक्षार्थी) मुनि इस हितकर अर्थ का चिन्तन करे—"यदि आचार्य और साधु मुझ पर अनुग्रह करें तो मैं निहाल हो जाऊँ—मानूं कि उन्होंने मुझे भव-सागर से तार दिया।" (५।१।९४)

१४३—वह प्रेमपूर्वक साधुओं को यथाक्रम निमन्त्रण दे। उन निमन्त्रित साधुओं में से यदि कोई साधु भोजन करना चाहे तो उसके साथ भोजन करे। (५।१।९५)

१४४—यदि कोई साध न चाहे तो अकेला ही भोजन करे—खुले पात्र में यतनापूर्वक नीचे नहीं डालता हुआ। (५।१।९६)

१४५—पडिग्गहं संलिहित्ताणं
लेव-मायाए संजए ।
दुगंधं वा सुगंधं वा
सव्वं भुंजे न छड्डुए ॥ (५।२।१)

१४६—न य भोयणम्मि गिद्धो
चरे उंछं अयंपिरो ।
अफासुयं न भुंजेज्जा
कीयमुद्देसियाहडं ॥ (८।२३)

१४७—लूहवित्ती सुसंतुट्ठे
अप्पिच्छे सुहरे सिया ।
आसुरत्तं न गच्छेज्जा
सोच्चाणं जिण-सासणं ॥ (८।२५)

१४८—तित्तगं व कडुयं व कसायं
अंबिलं व महुरं लवणं वा ।
एय लद्धमन्नट्ठ - पउत्तं
महु-घयं व भुंजेज्ज संजए ॥ (५।१।९७)

१४५—संयमी मुनि लेप लगा रहे तब तक पात्र को पोंछकर सब खाले, शेष न छोड़े, भले फिर वह दुर्गन्धयुक्त हो या सुगन्धयुक्त। (५।२।१)

१४६—भोजन में गृद्ध होकर विशिष्ट घरों में न जाए किन्तु वाचालता से रहित होकर उञ्छ (अनेक घरों से थोड़ा-थोड़ा) ले। अप्रासुक, क्रीत, औद्देसिक और आहृत आहार न खाए। (८।२३)

१४७—मुनि रूक्षवृत्ति, सुसन्तुष्ट, अल्प इच्छा वाला और अल्पाहार से तृप्त होने वाला हो। वह जिन-शासन (तीर्थङ्कर की शिक्षा) को सुनकर क्रोध न करे। (८।२५)

१४८—गृहस्थ के लिए बना हुआ तीता (तिक्त) या कड़ुवा, कसैला या खट्टा, मीठा या नमकीन जो भी आहार उपलब्ध हो, उसे संयमी मुनि मधु-घृत की भाँति खाए। (५।१।९७)

१४६—अरसं विरसं वा वि
सूइयं वा असूइयं ।
उल्लं वा जइ वा सुक्कं
मन्थु - कुम्मास-भोयणं ॥ (५।१।६८)

१५०—उप्पण्णं नाइहीलेज्जा
अप्पं पि बहु फासुयं ।
मुहालद्धं मुहाजीवी
भुंजेज्जा दोसवज्जियं ॥ (५।१।६६)

१५१—अत्थंगयम्मि आइच्चे
पुरत्था य अणुग्गए ।
आहारमइयं सव्वं
मणसा वि न पत्थए ॥ (८।२८)

१५२—अलद्धुयं नो परिदेवएज्जा ।
लद्धुं न विकत्थयई स पुज्जो ॥ (६।३।४)

१४९—मुधाजीवी मुनि अरस या विरस, व्यंजन-सहित या व्यंजन-रहित, आर्द्र या शुष्क, मन्थु और कुल्माष का जो भोजन—(५।१।९८)

१५०—विधिपूर्वक प्राप्त हो, उसकी निन्दा न करे। निर्दोष आहार अल्प या अरस होते हुए भी बहुत या सरस होता है। इसलिए उस मुधालब्ध और दोष-वर्जित आहार को समभाव से खा ले। (५।१।९९)

१५१—सूर्यास्त से लेकर पुनः सूर्य पूर्व में न निकल आए, तब तक सब प्रकार के आहार की मन से भी इच्छा न करे। (८।२८)

१५२—जो भिक्षा न मिलने पर खिन्न नहीं होता और मिलने पर श्लाघा नहीं करता, वह पूज्य है। (९।३।४)

२० : महुकरवित्ती

१५३—जहा दुमस्स पुप्फेसु
भमरो आवियइ रसं ।
न य पुप्फं किलामेइ
सो य पीणेइ अप्पयं ॥ (१।२)

१५४—एमेए समणा मुत्ता
जे लोए संति साहुणो ।
विहंगमा व पुप्फेसु
दाणभत्तेसणे रया ॥ (१।३)

१५५—वयं च वित्तिं लब्भामो
न य कोइ उवहम्मई ।
अहागडेसु रीयंति
पुप्फेसु भमरा जहा ॥ (१।४)

२० : माधुकरी-वृत्ति

१५३—जिस प्रकार भ्रमर द्रुम-पुष्पों से थोड़ा-थोड़ा रस पीता है, किसी पुष्प को म्लान नहीं करता और अपने को भी तृप्त करता है—(१।२)

१५४—उसी प्रकार लोक में जो मुक्त और साधनाशील श्रमण हैं, वे दानभक्त—दाता द्वारा दिए जाने वाले निर्दोष आहार की एषणा में रत रहते हैं, जैसे भ्रमर पुष्पों में। (१।३)

१५५—हम इस तरह से वृत्ति (भिक्षा) प्राप्त करेंगे कि किसी जीवन का उपहनन न हो। श्रमण यथाकृत—सहज रूप से बना—आहार लेते हैं, जैसे भ्रमर पुष्पों से रस। (१।४)

१५६—महुकारसमा बुद्धा
जे भवंति अणिस्सिया
नाणापिंडरया दंता
तेण वुच्चंति साहुणो ॥ (१।५)

१५६—जो बुद्ध पुरुष मधुकर के समान अनिश्रित हैं—किसी एक पर आश्रित नहीं, नाना पिण्ड में रत हैं और जो दान्त हैं, वे अपने इन्हीं गुणों से साधु कहलाते हैं। (१।५)

२१ : भिक्खेसणा

(क)

१५७—संपत्ते भिक्खकालम्मि
असंभंतो अमुच्छिओ ।
इमेण कमजोगेण
भत्तपाणं गवेसए ॥ (५।१।१)

१५८—से गामे वा नगरे वा
गोयरग्गगओ मुणी ।
चरे मंदमणुव्विग्गो
अव्वक्खित्तेण चेयसा ॥ (५।१।२)

१५९—अदीणो वित्तिमेसेज्जा
न विसीएज्ज पंडिए ।
अमुच्छिओ भोयणम्मि
मायन्ने एसणारए ॥ (५।२।२६)

२१ : भिक्षा-गवेषणा

(क)

१५७—भिक्षा का काल प्राप्त होने पर मुनि असंभ्रान्त और अमूर्च्छित रहता हुआ इस (आगे कहे जाने वाले), क्रम-योग से भक्त-पान की गवेषणा करे। ((५।१।१)

१५८—गांव या नगर में गोचराग्र के लिए निकला हुआ वह मुनि धीरे-धीरे अनुद्विग्न और अव्याक्षिप्त चित्त से चले। (५।१।२)

१५९—भोजन में अमूर्च्छित, मात्रा को जानने वाला, एषणारत पण्डित मुनि अदीन-भाव से वृत्ति (भिक्षा) की एषणा करे। (भिक्षा न मिलने पर) विषाद (खेद) न करे। (५।२।२६)

१६०—समुयाणं चरे भिक्खू
कुलं उच्चावयं सया ।
नीयं कुलमइक्कम्म
ऊसढं नाभिधारए ॥ (५।२।२५)

१६१—पडिकुट्ठकुलं न पविसे
मामगं परिवज्जए ।
अचियत्तकुलं न पविसे
चियत्तं पविसे कुलं ॥ (५।१।१७)

१६२—साणी-पावार-पिहियं
अप्पणा नावपंगुरे ।
कवाडं नो पणोल्लेज्जा
ओग्गहंसि अजाइया ॥ (५।१।१८)

१६३—गोयरग्गपविट्ठो उ
वच्चमुत्तं न धारए ।
ओगासं फासुयं नच्चा
अणुन्नविय वोसिरे ॥ (५।१।१९)

१६०—भिक्षु सदा समुदान भिक्षा करे, उच्च और नीच सभी कुलों में जाय, नीच कुल को छोड़कर उच्च कुल में न जाए। (५।२।२५)

१६१—मुनि प्रतिक्रुष्ट (निषिद्ध) कुल में प्रवेश न करे। मामक (गृह-स्वामी द्वारा प्रवेश निषिद्ध हो उस) का परिवर्जन करे। अप्रीतिकर कुल में प्रवेश न करे। प्रीतिकर कुल में प्रवेश करे। (५।१।१७)

१६२—मुनि गृहपति की आज्ञा लिए बिना सन और ऊनी वस्त्र से ढँका द्वार स्वयं न खोले। किवाड़ न खोले। (५।१।१८)

१६३—गोचराग्र-प्रविष्ट मुनि मल-मूत्र की बाधा को न रखे। प्रासुक स्थान देख, उसके स्वामी की अनुमति लेकर वहाँ मल-मूत्र का उत्सर्ग करे। (५।१।१९)

१६४—असंसत्तं पलोएज्जा
नाइदूरावलोयए ।
उप्फुल्लं न विणिज्झाए
नियट्टेज्ज अयंपिरो ॥ (५।१।२३)

१६५—अइभूमिं न गच्छेज्जा
गोयरग्गगओ मुणी ।
कुलस्स भूमिं जाणित्ता
मियं भूमिं परक्कमे ॥ (५।१।२४)

१६६—तत्थेव पडिलेहेज्जा
भूमिभागं वियक्खणो ।
सिणाणस्स य वच्चस्स
संलोगं परिवज्जए ॥ (५।१।२५)

१६७—दग - मट्टिय - आयाणं
बीयाणि हरियाणि य ।
परिवज्जंतो चिट्ठेज्जा
सव्विंदिय - समाहिए ॥ (५।१।२६)

१६४—मुनि अनिमेष दृष्टि से न देखे। अति दूर न देखे। उत्फुल्ल दृष्टि से न देखे। भिक्षा का निषेध करने पर बिना कुछ कहे वापस चला जाय। (५।१।२३)

१६५—गोचराग्र के लिए घर में प्रविष्ट मुनि अननुज्ञात-भूमि में न जाय, कुल की मर्यादित भूमि को जानकर अनुज्ञात-भूमि में प्रवेश करे। (५।१।२४)

१६६—विचक्षण मुनि मित-भूमि में ही उचित भू-भाग का प्रतिलेखन करे। जहाँ से स्नान और शौच का स्थान दिखाई पड़े, उस भूमि-भाग का परिवर्जन करे। (५।१।२५)

१६७—सर्वेन्द्रिय-समाहित मुनि उदक और मिट्टी लाने के मार्ग तथा बीज और हरियाली को वर्जकर खड़ा रहे। (५।१।२६)

१६८—न चरेज्ज वासे वासंते
महियाए व पडंतीए।
महावाए व वायंते
तिरिच्छ-संपाइमेसु वा ॥ (५।१।८)

१६६—गोयरग्ग - पविट्ठो उ
न निसीएज्ज कत्थई।
कहं च न पबंधेज्जा
चिट्ठित्ताण व संजए ॥ (५।२।८)

१७०—अग्गलं फलिहं दारं
कवाडं वा वि संजए।
अवलंबिया न चिट्ठेज्जा
गोयरग्गगओ मुणी ॥ (५।२।६)

१७१—अतिंतिणे अचवले
अप्पभासी मियासणे।
हवेज्ज उयरे दंते
थोवं लद्धुं न खिंसए ॥ (८।२६)

१६८—वर्षा बरस रही हो, कुहरा गिर रहा हो, महावात चल रहा हो और मार्ग में संपातिम जीव छा रहे हों तो भिक्षा के लिए न जाय। (५।१।८)

१६६—गोचराग्र के लिए गया हुआ संयमी कहीं न बैठे और खड़ा रहकर भी कथा का प्रबन्ध न करे। (५।२।८)

१७०—गोचराग्र के लिए गया हुआ संयमी आगल, परिघ, द्वार या किवाड़ का सहारा लेकर खड़ा न रहे। (५।२।६)

१७१—आहार न मिलने या अरस आहार मिलने पर बकवास न करे, चपल न बने, अल्पभाषी, मितभोजी और उदर का दमन करने वाला हो। थोड़ा आहार पाकर दाता की निन्दा न करे। (८।२६)

१७२—पविसित्तु परागारं
पाणट्ठा भोयणस्स वा ।
जयं चिट्ठे मियं भासे
ण य रूवेसु मणं करे ॥ (८।१९)

१७३—इत्थियं पुरिसं वा वि
डहरं वा महल्लगं ।
वंदमाणो न जाएज्जा
नो य णं फरुसं वए ॥ (५।२।२९)

१७२—मुनि जल या भोजन के लिए गृहस्थ के घर में प्रवेश करके उचित स्थान में खड़ा रहे, परिमित बोले और रूप में मन न करे। (८।१९)

१७३—मुनि स्त्री या पुरुष, बाल या वृद्ध की वंदना (स्तुति) करता हुआ याचना न करे और (न देने पर) कठोर वचन न बोले। (५।२।२९)

२२ : भिक्खा-गवेसणा

(ख)

१७४—सेज्जा निसीहियाए
समावन्नो व गोयरे ।
अयावयट्ठा भोच्चाणं
जइ तेणं न संथरे ॥ (५।२।२)

१७५—तओ कारणमुप्पन्ने
भत्त-पाणं गवेसए ।
विहिणा पुव्व-उत्तेण
इमेणं उत्तरेण य ॥ (५।२।३)

१७६—सइ काले चरे भिक्खू
कुज्जा पुरिसकारियं ।
अलाभो त्ति न सोएज्जा
तवो त्ति अहियासए ॥ (५।२।६)

२२ : भिक्षा-गवेषणा

(ख)

१७४—उपाश्रय या स्वाध्याय-भूमि में अथवा गोचर (भिक्षा) के लिए गया हुआ मुनि मठ आदि में अपर्याप्त खाकर यदि न रह सके तो—(५।२।२)

१७५—कारण उत्पन्न होने पर पूर्वोक्त विधि से और इस उत्तर (वक्ष्यमाण) विधि से भक्त-पान की गवेषणा करे। (५।२।३)

१७६—भिक्षु समय होने पर भिक्षा के लिए जाए ; पुरुषकार (श्रम) करे ; भिक्षा न मिलने पर शोक न करे ; सहज तप ही सही—यों मान भूख को सहन करे। (५।२।६)

१७७—तहेवुच्चावया पाणा
भत्तट्ठाए समागया ।
त-उज्जुयं न गच्छेज्जा
जयमेव परक्कमे ॥ (५।२।७)

१७८—पुरक्कमेण हत्थेण
दव्वीए भायणेण वा ।
देंतियं पडियाइक्खे
न मे कप्पइ तारिसं ॥ (५।१।३२)

१७९—एवं उदओल्ले ससिणिद्धे
ससरक्खे मट्टिया ऊसे ।
हरियाले हिंगुलए
मणोमिला अंजणे लोणे ॥ (५।१।३३)

१८०—गेरुय - वण्णिय - सेडिय
सोरट्ठिय-पिट्ठ कुक्कुस कए य ।
उक्कट्ठमसंसट्ठे
संसट्ठे चेव बोधव्वे ॥ (५।१।३४)

१७७—इसी प्रकार नाना प्रकार के प्राणी भोजन के निमित्त एकत्रित हों, उनके सम्मुख न जाए। उन्हें त्रास न देता हुआ यतनापूर्वक जाए। (५।२।७)

१७८—पुराकर्म-कृत हाथ, कड़छी और बर्तन से भिक्षा देती हुई स्त्री को मुनि प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता। (५।१।३२)

१७९—इसी प्रकार आर्द्र, सस्निग्ध, सचित्त रज-कण, मृत्तिका, क्षार, हरिताल, हिंगुल, मैनशिल, अंजन, नमक—(५।१।३३)

१८०—गैरिक (लाल-मिट्टी), वर्णिका (पीली-मिट्टी), श्वेतिका, सौराष्ट्रिका (गोपी चन्दन), तत्काल पीसे हुए आटे या कच्चे चावलों के आटे, अनाज के भूसे या छिलके और फल के सूक्ष्म खण्ड या हरे पत्तों के रस से सने हुए (हाथ, कड़छी और बर्तन से भिक्षा देती हुई स्त्री) को मुनि प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता तथा संसृष्ट और असंसृष्ट को जानना चाहिए। (५।१।३४)

१८१—असंसट्ठेण हत्थेण
दव्वीए भायणेण वा ।
दिज्जमाणं न इच्छेज्जा
पच्छाकम्मं जहिं भवे ॥ (५।१।३५)

१८२—संसट्ठेण हत्थेण
दव्वीए भायणेण वा ।
दिज्जमाणं पडिच्छेज्जा
जं तत्थेसणियं भवे ॥ (५।१।३६)

१८३—असणं पाणगं वा वि
खाइमं साइमं तहा ।
जं जाणेज्ज सुणेज्जा वा
पुण्णट्ठा पगडं इमं ॥ (५।१।४९)

१८४—तं भवे भत्त-पाणं तु
संजयाण अकप्पियं ।
देंतियं पडियाइक्खे
न मे कप्पइ तारिसं ॥ (५।१।५०)

१८१—जहाँ पश्चात्-कर्म का प्रसंग हो वहाँ असंसृष्ट (भक्त-पान से अलिप्त) हाथ, कड़छी और बर्तन से दिया जाने वाला आहार मुनि न ले। (५।१।३५)

१८२—संसृष्ट (भक्त-पान से लिप्त) हाथ, कड़छी और बर्तन से दिया जाने वाला आहार, जो वहाँ एषणीय हो, मुनि न ले। (५।१।३६)

१८३—यह अशन, पानक, खाद्य और स्वाद्य पुण्यार्थ तैयार किया हुआ है, मुनि यह जान जाए या सुनले तो— (५।१।४६)

१८४—वह भक्त-पान संयति के लिए अकल्पनीय होता है, इसलिए मुनि देती हुई स्त्री को प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता। (५।१।५०)

१८५—सालुयं वा विरालियं
कुमुदुप्पलनालियं ।
मुणालियं सासवनालियं
उच्छुखंडं अनिव्वुडं ॥ (५।२।१८)

१८६—तरुणगं वा पवालं
रुक्खस्स तणगस्स वा ।
अन्नस्स वा वि हरियस्स
आमगं परिवज्जए ॥ (५।२।१९)

१८७—तरुणियं व छिवाडिं
आमियं भज्जियं सइं ।
देंतियं पडियाइक्खे
न मे कप्पइ तारिसं ॥ (५।२।२०)

१८८—तहा कोलमणुस्सिन्नं
वेलुयं कासवनालियं ।
तिलपप्पडगं नीमं
आमगं परिवज्जए ॥ (५।२।२१)

१८५—कमलकन्द, पलाशकन्द, कुमुद-नाल, उत्पल-नाल, पद्मनाल, सरसों की नाल, अपक्व गंडेरी—(५।२।१८)

१८६—वृक्ष, तृण या दूसरी हरियाली की कच्ची नई कोंपल न ले। (५।२।१९)

१८७—कच्ची और एक बार भूनी हुई फली देती हुई स्त्री को मुनि प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता। (५।२।२०)

१८८—इसी प्रकार जो उबाला हुआ न हो वह बेर, बांस का अंकुर, काश्यपनालिका (श्री पर्णीफल) तथा अपक्व तिल-पपड़ी और कदम्ब-फल न ले। (५।२।२१)

१८९—तहेव चाउलं पिट्ठं
वियडं वा तत्तनिव्वुडं ।
तिलपिट्ठ पूइ पिन्नागं
आमगं परिवज्जए ।। (५।२।२२)

१९०—कविट्ठं माउलिंगं च
मूलगं मूलगत्तियं ।
आमं असत्थपरिणयं
मणसा वि न पत्थए ।। (५।२।२३)

१९१—तहेव फल-मंथूणि
बीय-मंथूणि जाणिया ।
विहेलगं पियालं च
आमगं परिवज्जए ।। (५।२।२४)

१९२—सिक्खिऊण भिक्खेसणसोहिं
संजयाण बुद्धाण सगासे ।
तत्थ भिक्खू सुप्पणिहिंदिए
तिव्व-लज्ज गुणवं विहरेज्जासि ।। (५।२।५०)

१८९—इसी प्रकार चावल का पिष्ट, पूरा न उबला हुआ गर्म जल, तिल का पिष्ट, पोई साग और सरसों की खली—अपक्व न ले। (५।२।२२)

१९०—अपक्व और शस्त्र से अपरिणत कैथ, बिजौरा, मूली और मूली के गोल टुकड़े को मन से भी न चाहे। (५।२।२३)

१९१—इसी प्रकार अपक्व फलचूर्ण, बीजचर्ण, बहेड़ा और प्रियाल-फल (चिरौंजी) न ले। (५।२।२४)

१९२—संयत और बुद्ध श्रमणों के समीप भिक्षैषणा की विशुद्धि पीखकर उसमें सुप्रणिहित इन्द्रिय वाला भिक्षु उत्कृष्ट संयम और गुण से सम्पन्न होकर विचरे। (५।२।५०)

२३ : उग्गम-दोस-वज्जण

१९३—दोण्हं तु भुंजमाणाणं
एगो तत्थ निमंतए ।
दिज्जमाणं न इच्छेज्जा
छंदं से पडिलेहए ॥ (५।१।३७)

१९४—दोण्हं तु भुंजमाणाणं
दोवि तत्थ निमंतए ।
दिज्जमाणं पडिच्छेज्जा
जं तत्थेसणियं भवे ॥ (५।१।३८)

१९५—दगवारएण पिहियं
नीसाए पीढएण वा ।
लोढेण वा वि लेवेण
सिलेसेण व केणइ ॥ (५।१।४५)

२३ : उद्गम-दोष-वर्जन

१६३—दो स्वामी या भोक्ता हों और एक निमन्त्रित करे तो मुनि वह आहार न ले। दूसरे के अभिप्राय को देखे—उसे देना अप्रिय लगता हो तो न ले और प्रिय लगता हो तो ले ले। (५।१।३७)

१६४—दो स्वामी या भोक्ता हों और दोनों ही निमन्त्रित करें तो मुनि उस दीयमान आहार को, यदि वह एषणीय हो तो, ले ले। (५।१।३८)

१६५—जल-कुंभ, चक्की, पीठ, शिलापुत्र (लोढ़ा), मिट्टी के लेप और लाख आदि श्लेष द्रव्यों से पिहित (ढंके, लिपे और मूंदे हुए) पात्र का—(५।१।४५)

१९६—तं च उब्भिंदिया देज्जा
समणट्ठाए व दावए ।
देंतियं पडियाइक्खे
न मे कप्पइ तारिसं ॥ (५।१।४६)

१९७—असणं पाणगं वा वि
खाइमं साइमं तहा ।
जं जाणेज्ज सुणेज्जा वा
वणिमट्ठा पगडं इमं ॥ (५।१।५१)

१९८—तं भवे भत्त-पाणं तु
संजयाण अकप्पियं ।
देंतियं पडियाइक्खे
न मे कप्पइ तारिसं ॥ (५।१।५२)

१९९—असणं पाणगं वा वि
खाइमं साइमं तहा ।
जं जाणेज्ज सुणेज्जा वा
समणट्ठा पगडं इमं ॥ (५।१।५३)

१६६—श्रमण के लिए मुँह खोल कर, आहार देती हुई स्त्री को मुनि प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता। (५।१।४६)

१६७—यह अशन, पानक, खाद्य और स्वाद्य वनीपकों—भिखारियों के निमित्त तैयार किया हुआ है, मुनि यह जान जाय या सुन ले तो—(५।१।५१)

१६८—वह भक्त-पान संयति के लिए अकल्पनीय होता है, इसलिए मुनि देती हुई स्त्री को प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता। (५।१।५२)

१६९—यह अशन, पानक, खाद्य और स्वाद्य श्रमणों के निमित्त तैयार किया हुआ है, मुनि यह जान जाय या सुन ले तो—(५।१।५३)

२००—तं भवे भत्त-पाणं तु
संजयाण अकप्पियं ।
देंतियं पडियाइक्खे
न मे कप्पइ तारिसं ।। (५।१।५४)

२०१—उद्देसियं कीयगडं
पूईकम्मं च आहडं ।
अज्झोयर पामिच्चं
मीसजायं च वज्जए ।। (५।१।५५)

२०२—उग्गमं से पुच्छेज्जा
कस्सट्ठा केण वा कडं ?
सोच्चा निस्संकियं सुद्धं
पडिगाहेज्ज संजए ।। (५।१।५६)

२०३—निस्सेणिं फलगं पीढं
उस्सवित्ताणमारुहे ।
मंचं कीलं च पासायं
समणट्ठाए व दावए ।। (५।१।६७)

२००—वह भक्त-पान संयति के लिए अकल्पनीय होता है, इसलिए मुनि देती हुई स्त्री को प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता। (५।१।५४)

२०१—औद्देशिक, क्रीतकृत, पूतिकर्म,[1] आहृत, अध्यवतर,[2] प्रामित्य[3] और मिश्रजात[4] आहार मुनि न ले। (५।१।५५)

२०२—संयमी आहार का उद्गम पूछे। किसलिए किया है? किसने किया है?—इस प्रकार पूछे। दाता से प्रश्न का उत्तर सुनकर निःशंकित और शुद्ध आहार को ले। (५।१।५६)

२०३—श्रमण के लिए दाता निसैनी, फलक, पीठ को ऊंचा कर मचान और प्रासाद पर चढ़ (भक्त-पान लाए तो साधु उसे ग्रहण न करे)—(५।१।६७)

१—आधाकर्म से मिश्रित।

२—अपने लिए पक रहे भोजन के साथ साधु के लिए और पकाना।

३—साधु के लिए उधार ली हुई वस्तु।

४—प्रारम्भ से ही साधु और गृहस्थ दोनों के लिए पकाया हुआ।

२०४—दुरूहमाणी पवडेज्जा
हत्थं पायं व लूसए ।
पुढवि-जीवे वि हिंसेज्जा
जे य तन्निस्सिया जगा ॥ (५।१।६८)

२०५—एयारिसे महादोसे
जाणिऊण महेसिणो ।
तम्हा मालोहडं भिक्खं
न पडिगेण्हंति संजया ॥ (५।१।६९)

२०४—निसैनी आदि द्वारा चढ़ती हुई स्त्री गिर सकती है, हाथ-पैर टूट सकते हैं, उसके गिरने से नीचे दबकर पृथ्वी के तथा पृथ्वी आश्रित अन्य जीवों की विराधना हो सकती है। (५।१।६८)

२०५—अतः ऐसे महादोषों को जानकर महर्षि—संयमी मालापहृत भिक्षा नहीं लेते। (५।१।६६)

२४ : एसणा-दोस-वज्जण

२०६—आहरंती सिया तत्थ
परिसाडेज्ज भोयणं ।
देंतियं पडियाइक्खे
न मे कप्पइ तारिसं ॥ (५।१।२८)

२०७—सम्मद्दमाणी पाणाणि
बीयाणि हरियाणि य ।
असंजमकरिं नच्चा
तारिसं परिवज्जए ॥ (५।१।२९)

२०८—साहट्टु निक्खिवित्ताणं
सच्चित्तं घट्टियाण य ।
तहेव समणट्ठाए
उदगं संपणोल्लिया ॥ (५।१।३०)

२४ : एषणा-दोष-वर्जन

२०६—यदि साधु के पास भोजन लाती हुई गृहिणी उसे गिराए तो मुनि उस देती हुइ स्त्री को प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता। (५।१।२८)

२०७—प्राणी, बीज और हरियाली को कुचलती हुई स्त्री असंयमकारी होती है—यह जान मुनि उसके पास से भक्त-पान न ले। (५।१।२९)

२०८—एक बर्तन में से दूसरे बर्तन में निकालकर, सचित्त वस्तु पर रखकर, सचित्त को हिलाकर, इसी तरह पात्रस्थ सचित्त जल को हिलाकर—(५।१।३०)

२०९—आगाहइत्ता चलइत्ता
आहरे पाण-भोयणं ।
देंतियं पडियाइक्खे
न मे कप्पइ तारिसं ॥ (५।१।३१)

२१०—गुव्विणीए उवन्नत्थं
विविहं पाण-भोयणं ।
भुञ्जमाणं विवज्जेज्जा
भुत्तसेसं पडिच्छए ॥ (५।१।३९)

२११—सिया य समणट्ठाए
गुव्विणी कालमासिणी ।
उट्ठिया वा निसीएज्जा
निसन्ना वा पुणुट्ठए ॥ (५।१।४०)

२१२—तं भवे भत्त-पाणं तु
संजयाण अकप्पियं ।
देंतियं पडियाइक्खे
न मे कप्पइ तारिसं ॥ (५।१।४१)

२०९—जल में अवगाहन कर, आंगन में ढुले हुए जल को चालित कर श्रमण के लिए आहार-पानी लाए तो मुनि उस देती हुई स्त्री को प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता। (५।१।३१)

२१०—गर्भवती स्त्री यदि स्व-निमित्त बनाया हुआ विविध प्रकार का भक्त-पान खा रही हो तब मुनि उसका विवर्जन करे, खाने के बाद बचा हो वह ले ले। (५।१।३९)

२११—काल-मासवती गर्भिणी खड़ी हो और श्रमण को भिक्षा देने के लिए कदाचित् बैठ जाए अथवा बैठी हो और खड़ी हो जाए तो—(५।१।४०)

२१२—उसके द्वारा दिया जाने वाला भक्त-पान संयमियों के लिए अकल्प्य होता है। इसलिए मुनि देती हुई स्त्री को प्रतिषेध करे। इस प्रकार दिया जाने वाला आहार मैं नहीं ले सकता। (५।१।४१)

२१३—थणगं पिज्जेमाणी
दारगं वा कुमारियं ।
तं निक्खिवित्तु रोयंतं
आहरे पाण-भोयणं ॥ (५।१।४२)

२१४—तं भवे भत्त-पाणं तु
संजयाण अकप्पियं ।
देंतियं पडियाइक्खे
न मे कप्पइ तारिसं ॥ (५।१।४३)

२१५—जं भवे भत्त-पाणं तु
कप्पाकप्पम्मि संकियं ।
देंतियं पडियाइक्खे
न मे कप्पइ तारिसं ॥ (५।१।४४)

२१६—असणं पाणगं वा वि
खाइमं साइमं तहा ।
पुप्फेसु होज्ज उम्मीसं
बीएसु हरिएसु वा ॥ (५।१।५७)

२१३—बालक या बालिका को स्तन-पान कराती हुई स्त्री उसे रोते हुए छोड़ भक्त-पान लाए—(५।१।४२)

२१४—वह भक्त-पान संयति के लिए अकल्पनीय होता है, इसलिए मुनि देती हुई स्त्री को प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता। (५।१।४३)

२१५—जो भक्त-पान कल्प और अकल्प की दृष्टि से शंका-युक्त हो, उसे देती हुई स्त्री को मुनि प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता। (५।१।४४)

२१६—यदि अशन, पानक, खाद्य और स्वाद्य, पुष्प, बीज और हरियाली से उन्मिश्र हो तो—(५।१।५७)

२१७—तं भवे भत्त-पाणं तु
संजयाण अकप्पियं ।
देंतियं पडियाइक्खे
न मे कप्पइ तारिसं ॥ (५।१।५८)

२१८—असणं पाणगं वा वि
खाइमं साइमं तहा ।
उदगम्मि होज्ज निक्खित्तं
उत्तिंग-पणगेसु वा ॥ (५।१।५९)

२१९—तं भवे भत्त-पाणं तु
संजयाण अकप्पियं ।
देंतियं पडियाइक्खे
न मे कप्पइ तारिसं ॥ (५।१।६०)

२२०—असणं पाणगं वा वि
खाइमं साइमं तहा ।
तेउम्मि होज्ज निक्खित्तं
तं च संघट्टिया दए ॥ (५।१।६१)

२१७—वह भक्त-पान संयति के लिए अकल्पनीय होता है, इसलिए मुनि देती हुई स्त्री को प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता। (५।१।५८)

२१८—यदि अशन, पानक, खाद्य और स्वाद्य, पानी, उत्तिग तथा पनक पर निक्षिप्त हो तो—(५।१।५९)

२१९—वह भक्त-पान संयति के लिए अकल्पनीय होता है, इसलिए मुनि देती हुई स्त्री को प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नही ले सकता। (५।१।६०)

२२०—यदि अशन, पानक, खाद्य और स्वाद्य अग्नि पर निक्षिप्त हो तथा उसका (अग्नि का) स्पर्श कर दे तो—(५।१।६१)

२२१—तं भवे भत्त-पाणं तु
संजयाण अकप्पियं ।
देंतियं पडियाइक्खे
न मे कप्पइ तारिसं ॥ (५।१।६२)

२२२—एवं उस्सक्किया ओसक्किया
उज्जालिया पज्जालिया निव्वाविया ।
उस्सिंचिया निस्संचिया
ओवत्तिया ओयारिया दए ॥ (५।१।६३)

२२३—तं भवे भत्त-पाणं तु
संजयाण अकप्पियं ।
देंतियं पडियाइक्खे
न मे कप्पइ तारिसं ॥ (५।१।६४)

२२४—कंदं मूलं पलंबं वा
आमं छिन्नं व सन्निरं ।
तुंबागं सिंगबेरं च
आमगं परिवज्जए ॥ (५।१।७०)

२२१—वह भक्त-पान संयति के लिए अकल्पनीय होता है, इसलिए मुनि देती हुई स्त्री को प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता। (५।१।६२)

२२२—इसी प्रकार अग्नि में इन्धन डालकर, उससे इन्धन निकालकर, उसको उज्ज्वलित कर, प्रज्वलित कर, बुझाकर, उस पर रखे हुए पात्र में से आहार निकाल कर, पानी का छींटा देकर, पात्र को टेढ़ाकर, उतार कर दे तो—(५।१।६३)

२२३—वह भक्त-पान संयति के लिए अकल्पनीय होता है, इसलिए मुनि देती हुई स्त्री को प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता। (५।१।६४)

२२४—अपक्व कंद, मूल, फल, छिला हुआ पत्ती का शाक, घीया और अदरक मुनि न ले। (५।१७०)

२२५—तहेव सत्तु-चुण्णाइं
कोल-चुण्णाइं आवणे ।
सक्कुलिं फाणियं पूयं
अन्नं वा वि तहाविहं ॥ (५।१।७१)

२२६—विक्कायमाणं पसढं
रएण परिफासियं ।
देंतियं पडियाइक्खे
न मे कप्पइ तारिसं ॥ (५।१।७२)

२२७—बहु-अट्ठियं पुग्गलं
अणिमिसं वा बहु-कंटयं ।
अत्थियं तिंदुयं बिल्लं
उच्छुखंडं व सिंबलिं ॥ (५।१।७३)

२२८—अप्पे सिया भोयणजाए
बहु-उज्झिय-धम्मिए ।
देंतियं पडियाइक्खे
न मे कप्पइ तारिसं ॥ (५।१।७४)

२२५—इसी प्रकार सत्तू, बेर का चूर्ण, तिल-पपड़ी, गीला-गुड़ (राब), पूआ, इस तरह की दूसरी वस्तुएँ भी—(५।१।७१)

२२६—जो बेचने के लिए दुकान में रखी हों, परन्तु न बिकी हों, रज से स्पृष्ट हो गई हों तो मुनि देती हुई स्त्री को प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता। ५।१।७२)

२२७—बहुत गुठली वाले फल, बहुत कांटों वाले अननास, अस्थिक वृक्ष का फल, आबनूस का फल और बेल का फल, गण्डेरी और फली—५।१।७३)

२२८—जिन में खाने का भाग थोड़ा हो और डालना अधिक पड़े—देती हुई स्त्री को मुनि प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता। (५।१।७४)

२२९—उप्पलं पउमं वा वि
कुमुयं वा मगदंतियं ।
अन्नं वा पुप्फ सच्चित्तं
तं च संलुंचिया दए ॥ (५।२।१४)

२३०—तं भवे भत्त-पाणं तु
संजयाण अकप्पियं ।
देंतियं पडियाइक्खे
न मे कप्पइ तारिसं ॥ (५।२।१५)

२३१—उप्पलं पउमं वा वि
कुमुयं वा मगदंतियं ।
अन्नं वा पुप्फ सच्चित्तं
तं च सम्मद्दिया दए ॥ (५।२।१६)

२३२—तं भवे भत्त-पाणं तु
संजयाण अकप्पियं ।
देंतियं पडियाइक्खे
न मे कप्पइ तारिसं ॥ (५।२।१७)

२२९—कोई उत्पल, पद्म, कुमुद, मालती या अन्य किसी सचित्त पुष्प का छेदन कर भिक्षा दे—(५।२।१४)

२३०—वह भक्त-पान संयति के लिए कल्पनीय नहीं होता, इसलिए मुनि देती हुई स्त्री को प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता। (५।२।१५)

२३१—कोई उत्पल, पद्म, कुमुद, मालती या अन्य किसी सचित्त पुष्प को कुचल कर भिक्षा दे—(५।२।१६)

२३२—वह भक्त-पान संयति के लिए कल्पनीय नहीं होता, इसलिए मुनि देती हुई स्त्री को प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता। (५।२।१७)

२३३—दुल्लहा उ मुहादाई
मुहाजीवी वि दुल्लहा ।
मुहादाई मुहाजीवी
दो वि गच्छंति सोग्गइं ॥ (५।१।१००)

२३३—मुधादायी दुर्लभ है और मुधाजीवी भी दुर्लभ है। मुधादायी और मुधाजीवी दोनों सुगति को प्राप्त होते हैं। (५।१।१००)

२५ : पाणेसणा

२३४—तहेवुच्चावयं पाणं
अदुवा वार-धोयणं ।
संसेइमं चाउलोदगं
अहुणा-धोयं विवज्जए ॥ (५।१।७५)

२३५—जं जाणेज्ज चिराधोयं
मईए दंसणेण वा ।
पडिपुच्छिऊण सोच्चा व
जं च निस्संकियं भवे ॥ (५।१।७६)

२३६—अजीवं परिणयं नच्चा
पडिगाहेज्ज संजए ।
अह संकियं भवेज्जा
आसाइत्ताण रोयए ॥ (५।१।७७)

२५ : पानैषणा

२३४—इसी प्रकार उच्चावच पानी या गुड़ के घड़े का धोवन, आटे का धोवन, चावल का धोवन और जो अधुना-धौत (तत्काल का धोवन) हो, उसे मुनि न ले। (५।१।७५)

२३५—अपनी मति या दर्शन से, पूछकर या सुनकर जान ले—यह धोवन चिरकाल का है और निःशंकित हो जाए तो—(५।१।७६)

२३६—उसे जीव रहित और परिणत जानकर संयमी मुनि ले ले। यह जल मेरे लिए उपयोगी होगा या नहीं—ऐसा सन्देह हो तो उसे चख कर लेने का निश्चय करे। (५।१।७७)

२३७—थोवमासायणट्ठाए
हत्थगम्मि दलाहि मे ।
मा मे अच्चंबिलं पूइं
नालं तण्हं विणित्तए ॥ (५।१।७८)

२३८—तं च अच्चंबिलं पूइं
नालं तण्हं विणित्तए ।
देंतियं पडियाइक्खे
न मे कप्पइ तारिसं ॥ (५।१।७९)

२३९—तं च होज्ज अकामेणं
विमणेण पडिच्छियं ।
तं अप्पणा न पिबे
नो वि अन्नस्स दावए ॥ (५।१।८०)

२४०—एगंतमवक्कमित्ता
अचित्तं पडिलेहिया ।
जयं परिट्ठवेज्जा
परिट्ठप्प पडिक्कमे ॥ (५।१।८१)

२३७—दाता से कहे—'चखने के लिए थोड़ा-सा जल मेरे हाथ में दो।' बहुत खट्टा, दुर्गन्ध-युक्त और प्यास बुझाने में असमर्थ जल लेकर मैं क्या करूँगा ? (५।१।७८)

२३८—यदि वह जल बहुत खट्टा, दुर्गन्ध-युक्त और प्यास बुझाने में असमर्थ हो तो देती हुई स्त्री को मुनि प्रतिषेध करे—इस प्रकार का जल मैं नहीं ले सकता। (५।१।७९)

२३९—यदि वह पानी अनिच्छा या असावधानी से लिया गया हो तो उसे न स्वयं पीए और न दूसरे साधुओं को दे। (५।१।८०)

२४०—परन्तु एकान्त में जा, अचित्त भूमि को देख, यतना-पूर्वक उसे परिस्थापित करे—डाल दे। परिस्थापित करने के पश्चात् स्थान में आकर प्रतिक्रमण करे। (५।१।८१)

२६ : कहं भासे ?

२४१—दिट्ठं मियं असंदिद्धं
पडिपुन्नं वियं जियं ।
अयंपिरमणुव्विग्गं
भासं निसिर अत्तवं ॥ (८।४८)

२४२—बहुं सुणेइ कण्णेहिं
बहुं अच्छीहिं पेच्छइ ।
न य दिट्ठं सुयं सव्वं
भिक्खू अक्खाउमरिहइ ॥ (८।२०)

२४३—सुयं वा जइ वा दिट्ठं
न लवेज्जोवघाइयं । (८।२१)

२६ : कैसे बोले ?

२४१—आत्मवान् दृष्ट, परिमित, असंदिग्ध, प्रतिपूर्ण व्यक्त, परिचित, वाचालता-रहित और भय-रहित भाषा बोले। (८।४८)

२४२—कानों से बहुत सुनता है, आँखों से बहुत देखता है। किन्तु सब देखे और सुने को कहना भिक्षु के लिए उचित नहीं। (८।२०)

२४३—सुना या देखा हुआ औपघातिक वचन साधु न कहे। (८।२१)

२४४—अपुच्छिओ न भासेज्जा
भासमाणस्स अंतरा ।
पिट्ठिमंसं न खाएज्जा
मायामोसं विवज्जए ॥ (८।४६)

२४५—अप्पत्तियं जेण सिया
आसु कुप्पेज्ज वा परो ।
सव्वसो तं न भासेज्जा
भासं अहियगामिणिं ॥ (८।४७)

२४६—आयार - पन्नत्ति - धरं
दिट्ठिवायमहिज्जगं ।
वइ-विक्खलियं नच्चा
न तं उवहसे मुणी ॥ (८।४९)

२४७—चउण्हं खलु भासाणं
परिसंखाय पन्नवं ।
दोण्हं तु विणयं सिक्खे
दो न भासेज्ज सव्वसो ॥ (७।१)

२४४—बिना पूछे न बोले; बीच में न बोले; चुगली न खाए और कपट-पूर्ण असत्य का वर्जन करे। (८।४६)

२४५—जिससे अप्रीति उत्पन्न हो और दूसरा शीघ्र कुपित हो, ऐसी अहितकर भाषा सर्वथा न बोले। (८।४७)

२४६—आचार (वाक्यरचना के नियमों) को तथा प्रज्ञापन की पद्धति को जानने वाला और दृष्टिवाद (नयवाद) का अभिज्ञ मुनि बोलने में स्खलित हुआ है (उसने वचन, लिंग और वर्ण का विपर्यास किया है), यह जान कर भी मुनि उसका उपहास न करे। (८।४९)

२४७—प्रज्ञावान् मुनि चारों भाषाओं को जानकर दो के द्वारा विनय (शुद्ध प्रयोग) सीखे और दो सर्वथा न बोले। (७।१)

२४८—जा य सच्चा अवत्तव्वा
सच्चामोसा य जा मुसा ।
जा य बुद्धेहिं णाइन्ना
न तं भासेज्ज पन्नवं ॥ (७।२)

२४९—असच्चमोसं सच्चं च
अणवज्जमकक्कसं ।
समुप्पेहमसंदिद्धं
गिरं भासेज्ज पन्नवं ॥ (७।३)

२५०—वितहं पि तहामुत्तिं
जं गिरं भासए नरो ।
तम्हा सो पुट्ठो पावेणं
किं पुण जो मुसं वए ॥ (७।५)

२४८—जो अवक्तव्य-सत्य, सत्यमृषा (मिश्र) मृषा और (असत्यामृषा-व्यवहार) भाषा बुद्धों के द्वारा अनाचीर्ण हो, उसे प्रज्ञावान् मुनि न बोले। (७२)

२४९—प्रज्ञावान् मुनि असत्यामृषा और सत्य-भाषा—जो अनवद्य, मृदु और सन्देह-रहित हो, उसे सोच-विचार कर बोले। (७३)

२५०—जो पुरुष सत्य दीखने वाली असत्य वस्तु का आश्रय लेकर बोलता है (पुरुष वेषधारी स्त्री को पुरुष कहता है) उससे भी वह पाप से स्पृष्ट होता है तो फिर उसका क्या कहना जो साक्षात् मृषा बोले। (७५)

२७ : वायावाय-विवेग

२५१—पंचिंदियाण पाणाणं
एस इत्थी अयं पुमं ।
जाव णं न विजाणेज्जा
ताव जाइ त्ति आलवे ॥ (७।२१)

२५२—तहेव मणुस्सं पसुं
पक्खिं वा वि सरीसिवं ।
थुले पमेइले वज्झे
पाइमे त्ति य नो वए ॥ (७।२२)

२५३—परिवुड्ढे ति णं बूया
बूया उवचिए त्ति य ।
संजाए पीणिए वा वि
महाकाए त्ति आलवे ॥ (७।२३)

२७ : वाच्यावाच्य विवेक

२५१—पंचेन्द्रिय प्राणियों के बारे में तब तक—यह स्त्री है या पुरुष—ऐसा (निश्चय रूप से) न जान जाए तब तक गाय की जाति, घोड़े की जाति—इस प्रकार बोले। (७।२१)

२५२—इसी प्रकार मनुष्य, पशु-पक्षी और सांप को (देख यह) स्थूल, प्रमेदुर (बहुत चर्बीवाला), वध्य (या बाह्य), अथवा पाक्य (पकाने योग्य) है, ऐसा न कहे। (७।२२)

२५३—(प्रयोजनवश कहना हो तो) उसे परिवृद्ध कहा जा सकता है, उपचित कहा जा सकता है अथवा संजात, (युवा) प्रीणित और महाकाय कहा जा सकता है। (७।२३)

२५४—तहेव गाओ दुज्झाओ
दम्मा गोरहग त्ति य ।
वाहिमा रहजोग त्ति
नेवं भासेज्ज पन्नवं ॥ (७।२४)

२५५—जुवं गवे त्ति णं बूया
धेणुं रसदय त्ति य ।
रहस्से महल्लए वा वि
वए संवहणे त्ति य ॥ (७।२५)

२५६—तहेव गंतुमुज्जाणं
पव्वयाणि वणाणि य ।
रुक्खा महल्ल पेहाए
नेवं भासेज्ज पन्नवं ॥ (७।२६)

२५७—अलं पासाय-खंभाणं
तोरणाणं गिहाण य ।
फलिहग्गल - नावाणं
अलं उदग-दोणिणं ॥ (७।२७)

२५४—इसी प्रकार प्रज्ञावान् मुनि गायें दुहने योग्य हैं, बैल दमन करने योग्य हैं, हल में जोतने योग्य हैं, वहन करने योग्य हैं (भार ढोने योग्य हैं) और रथ-योग्य हैं—इस प्रकार न बोले। (७।२४)

२५५—(प्रयोजनवश कहना हो तो) बैल युवा है, धेनु दूध देने वाली है—यों कहा जा सकता है। (बैल) छोटा है, बड़ा है अथवा संवहन—धुरा को वहन करने वाला है—यों कहा जा सकता है। (७।२५)

२५६—इसी प्रकार उद्यान, पर्वत और वन में जा वहाँ खड़े वृक्षों को देखकर प्रज्ञावान् मुनि यों न कहे—(७।२६)

२५७—(ये वृक्ष) प्रासाद, स्तम्भ, तोरण (नगरद्वार), घर, परिघ (नगर-द्वार की अर्गला), अर्गला, नौका और जल की कुण्डी के लिए उपयुक्त (पर्याप्त या समर्थ) हैं। (७।२७)

२५८—पीढए चंगबेरे य
नंगले मइयं सिया ।
जंतलट्ठी व नाभी वा
गंडिया व अलं सिया ॥ (७।२८)

२५९—आसणं सयणं जाणं
होज्जा वा किंचुवस्सए ।
भूओवघाइणिं भासं
नेवं भासेज्ज पन्नवं ॥ (७।२९)

२६०—तहेव गंतुमुज्जाणं
पव्वयाणि वणाणि य ।
रुक्खा महल्ल पेहाए
एवं भासेज्ज पन्नवं ॥ (७।३०)

२६१—जाइमंता इमे रुक्खा
दीह-वट्टा महालया ।
पयाय-साला विडिमा
वए दरिसणि त्ति य ॥ (७।३१)

२५८—(ये वृक्ष) पीठ, काष्ठ-पात्री, हल, मयिक (बोए हुए बीजों को ढकने का उपकरण), कोल्हू, नाभि (पहिए का मध्य-भाग) अथवा अहरन के उपयुक्त हैं। (७।२८)

२५९—(इन वृक्षों में) आसन, शयन, यान और उपाश्रय के उपयुक्त कुछ (काष्ठ) है—इस प्रकार भूतोपघातिनी भाषा प्रज्ञावान् भिक्षु न बोले। (७।२९)

२६०—इसी प्रकार उद्यान, पर्वत और वन में जा वहाँ बड़े वृक्षों को देख (प्रयोजनवश कहना हो तो) प्रज्ञावान् भिक्षु यों कहे—(७।३०)

२६१—ये वृक्ष उत्तम जाति के हैं, दीर्घ (लम्बे) हैं, वृत्त (गोल) हैं, महालय (बहुत विस्तार वाले अथवा स्कन्ध-युक्त) हैं, शाखा वाले हैं, प्रशाखा वाले हैं और दर्शनीय हैं। (७।३१)

२६२—तहा फलाइं पक्काइं
पाय-खज्जाइं नो वए ।
वेलोइयाइं टालाइं
वेहिमाइ त्ति नो वए ॥ (७।३२)

२६३—असंथड़ा इमे अंबा
बहु-निवट्टिमा फला ।
वएज्ज बहु-संभूया
भूयरूव त्ति वा पुणो ॥ (७।३३)

२६४—तहेवोसहीओ पक्काओ
नीलियाओ छवीइय ।
लाइमा भज्जिमाओ त्ति
पिहुखज्ज त्ति नो वए ॥ (७।३४)

२६५—रूढा बहु-संभूया
थिरा ऊसढा वि य ।
गब्भियाओ पसूयाओ
ससाराओ त्ति आलवे ॥ (७।३५)

२६२—तथा ये फल पक्व हैं, पकाकर खाने योग्य हैं—इस प्रकार न कहे। (तथा ये फल) वेलोचित (अविलम्ब तोड़ने योग्य) हैं, इनमें गुठली नहीं पड़ी है, ये दो टुकड़े करने योग्य हैं (फांक करने योग्य हैं)—इस प्रकार न कहे। (७।३२)

२६३—(प्रयोजनवश कहना हो तो) ये आम्र-वृक्ष अब फल-धारण करने में असमर्थ हैं, बहु-निर्वर्तित (प्रायः निष्पन्न) फल वाले हैं, बहु-संभूत (एक साथ उत्पन्न बहुत फल वाले) हैं अथवा भूतरूप (कोमल) हैं—इस प्रकार कहे। (७।३३)

२६४—इसी प्रकार औषधियाँ[1] पक गई हैं, अपक्व हैं, छवि (फली) वाली हैं, काटने योग्य हैं, भूनने योग्य हैं, चिड़वा बनाकर खाने योग्य हैं—इस प्रकार न बोले। (७।३४)

२६५—(प्रयोजनवश बोलना हो तो) औषधियाँ अंकुरित हैं, निष्पन्न-प्राय हैं, स्थिर हैं—ऊपर उठ गई हैं, भुट्टों से रहित हैं, भुट्टों के सहित हैं, धान्य कण सहित हैं—इस प्रकार बोले। (७।३५)

---

१ एक फसला पौधा—गेहूँ, चावल आदि।

२६६—तहेव संखडिं नच्चा
किच्चं कज्जं ति नो वए ।
तेणगं वा वि वज्भे त्ति
सुतित्थ त्ति य आवगा ॥ (७।३६)

२६७—संखडिं संखडिं बूया
पणियट्ठ त्ति तेणगं ।
बहु-समाणि तित्थाणि
आवगाणं वियागरे ॥ (७।३७)

२६८—तहा नईओ पुण्णाओ
कायतिज्ज त्ति नो वए ।
नावाहिं तारिमाओ त्ति
पाणि-पेज्ज त्ति नो वए ॥ (७।३८)

२६९—बहुवाहडा अगाहा
बहुसलिलुप्पिलोदगा ।
बहुवित्थडोदगा यावि
एवं भासेज्ज पन्नवं ॥ (७।३९)

२६६—इसी प्रकार संखडि (जीमन-वार) और कृत्य (मृत-भोज) को जानकर—ये करणीय हैं, चोर मारने योग्य है और नदी अच्छे घाट वाली है—इस प्रकार न कहे। (७।३६)

२६७—(प्रयोजनवश कहना हो तो) संखड़ी को संखड़ी कहा जा सकता है, चोर को पणितार्थ[1] कहा जा सकता है और नदी के घाट प्रायः सम हैं—इस प्रकार कहा जा सकता है। (७।३७)

२६८—तथा नदियाँ भरी हुई हैं, शरीर के द्वारा पार करने योग्य हैं, नौका के द्वारा पार करने योग्य हैं और तट पर बैठे हुए प्राणी उनका जल पी सकते हैं—इस प्रकार न कहे। (७।३८)

२६९—(प्रयोजनवश कहना हो तो) (नदियाँ) प्रायः भरी हुई हैं, प्रायः अगाध हैं, बहु-सलिला हैं, दूसरी नदियों के द्वारा जल का वेग बढ़ रहा है, बहुत विस्तीर्ण जल वाली हैं। प्रज्ञावान् भिक्षु इस प्रकार कहे। (७।३९)

---

१ धन के लिए जीवन की बाजी लगाने वाला।

२८ : परीक्ख-भासी

२७०—सव्वमेयं वइस्सामि
सव्वमेयं त्ति नो वए ।
अणुवीइ सव्वं सव्वत्थ
एवं भासेज्ज पन्नवं ॥ (७।४४)

२७१—तहेव मेहं व नहं व माणवं
न देव देव त्ति गिरं वएज्जा ।
सम्मुच्छिए उन्नए वा पओए
वएज्ज वा वुट्ठ बलाहए त्ति ॥ (७।५२)

२७२—अंतलिक्खे त्ति णं बूया
गुज्झाणुचरिय त्ति य ।
रिद्धिमंतं नरं दिस्स
रिद्धिमंतं ति आलवे ॥ (७।५३)

२८ : परीक्ष्यभाषी

२७०—(कोई सन्देश कहलाए तब) में यह सब कह दूंगा, (किसी को सन्देश देता हुआ) यह पूर्ण है, (अविकल या ज्यों का त्यों है)—इस प्रकार न कहे। सब स्थानों में पूर्वोक्त सब वचन-विधियों का अनुचिन्तन कर प्रज्ञावान् मुनि (जैसे कर्म-बन्ध न हो) वैसे बोले। (७।४४)

२७१—इसी प्रकार मेघ, नभ और मानव के लिए ये देव हैं—ऐसी वाणी न बोले। मेघ संमूर्च्छित हो रहा है, (उमड़ रहा है) अथवा उन्मत हो रहा है (झुक रहा है) अथवा बलाहक बरस पड़ा है—इस प्रकार बोले। (७।५२)

२७२—नभ और मेघ को अन्तरिक्ष अथवा गुह्यानुचरित कहे। ऋद्धिमान् नर को देख कर 'यह ऋद्धिमान् पुरुष है'—ऐसा कहे। (७।५३)

२७३—भासाए दोसे य गुणे य जाणिया
तीसे य दुट्ठे परिवज्जए सया ।
छसु संजए सामणिए सया जए
वएज्ज बुद्धे हियमाणुलोमियं ॥ (७।५६)

२७४—परिक्खभासी सुसमाहिइंदिए
चउक्कसायावगए अणिस्सिए ।
स निद्धुणे धुन्न-मलं पुरेकडं
आराहए लोगमिणं तहा परं ॥ (७।५७)

२७५—तहेवासंजयं धीरो
आस एहि करेहि वा ।
सय चिट्ठ वयाहि त्ति
नेवं भासेज्ज पन्नवं ॥ (७।४७)

२७६—बहवे इमे असाहू
लोए वुच्चंति साहुणो ।
न लवे असाहुं साहु त्ति
साहुं साहु त्ति आलवे ॥ (७।४८)

२७३—भाषा के दोषों और गुणों को जानकर दोष पूर्ण भाषा को सदा वर्जने वाला, छह जीवकाय के प्रति संयत, श्रामण्य में सदा सावधान रहने वाला प्रबुद्ध भिक्षु हित और आनुलोमिक वचन बोले। (७।५६)

२७४—गुण-दोष को परखकर बोलने वाला,, सुसमाहित-इन्द्रिय वाला, चार कषायों से रहित, अनिश्रित (तटस्थ) भिक्षु पूर्वकृत पाप-मल को नष्ट कर वर्तमान तथा भावी-लोक की आराधना करता है। (७।५७)

२७५—इसी प्रकार धीर और प्रज्ञावान् मुनि असंयति (गृहस्थ) को बैठ जा, आ जा, (अमुक कार्य) कर, सो जा, ठहर या खड़ा हो जा, चला जा—इस प्रकार न कहे। (७।४७)

२७६—ये बहुत सारे असाधु लोक (जन-साधारण) में साधु कहलाते हैं, (किन्तु प्रज्ञावान् मुनि) असाधु को साधु न कहे, जो साधु हो उसी को साधु कहे। (७।४८)

२७७—नाण - दंसण - संपन्नं
संजमे य तवे रयं ।
एवं गुण - समाउत्तं
संजयं साहुमालवे ॥ (७।४६)

२७८—देवाणं मणुयाणं च
तिरियाणं च वुग्गहे ।
अमुयाणं जओ होउ
मा वा होउ त्ति नो वए ॥ (७।५०)

२७९—वाओ वुट्ठं व सीउण्हं
खेमं धायं सिवं ति वा ।
कया णु होज्ज एयाणि
मा वा होउ त्ति नो वए ॥ (७।५१)

२८०—नक्खत्तं सुमिणं जोगं
निमित्तं मंत भेसजं ।
गिहिणो तं न आइक्खे
भूयाहिगरणं पयं ॥ (८।५०)

२७७—ज्ञान और दर्शन से सम्पन्न, संयम और तप में रत—इस प्रकार गुण समायुक्त संयमी को ही साधु कहे। (७।४९)

२७८—देव, मनुष्य और तिर्यञ्चों (पशु-पक्षियों) का आपस में विग्रह होने पर अमुक की विजय हो अथवा अमुक की विजय न हो—इस प्रकार न कहे। (७।५०)

२७९—वायु, वर्षा, सर्दी, गर्मी, क्षेम, सुभिक्ष और शिव—ये कब होंगे अथवा ये न हों तो अच्छा रहे—इस प्रकार न कहे। (७।५१)

२८०—नक्षत्र, स्वप्नफल, वशीकरण, निमित्त, मन्त्र और भेषज—ये जीवों की हिंसा के स्थान हैं, इसलिए मुनि गृहस्थों को इनके फलाफल न बताए। (८।५०)

२६ : संदिद्ध-भासा-वज्जण

२८१—एयं च अट्ठमन्नं वा
जं तु नामेइ सासयं ।
स भासं सच्चमोसं पि
तं पि धीरो विवज्जए ।। (७।४)

२८२—अईयम्मि य कालम्मी
पच्चुप्पन्नमणागए ।
जत्थ संका भवे तं तु
एवमेयं ति नो वए ।। (७।६)

२८३—अईयम्मि य कालम्मी
पच्चुप्पन्नमणागए ।
निस्संकियं भवे जं तु
एवमेयं ति निद्दिसे ।। (७।१०)

३४ : निर्ग्रन्थ

३०२—पञ्च आश्रव का निरोध करने वाले, तीन गुप्तियों से गुप्त, छह प्रकार के जीवों के प्रति संयत, पाँचों इन्द्रियों का निग्रहण करने वाले धीर निर्ग्रन्थ ऋजुदर्शी होते हैं। (३।११)

३०३—परीषहरूपी रिपुओं का दमन करने वाले, धुत-मोह, जितेन्द्रिय महर्षि सर्व दुःखों के प्रहाण—नाश के लिए पराक्रम करते हैं। (३।१३)

३०४—जो तप, संयम-योग और स्वाध्याय-योग में प्रवृत्त रहता है, वह अपनी और दूसरों की रक्षा करने में उसी प्रकार समर्थ होता है, जिस प्रकार सेना से घिर जाने पर आयुधों से सुसज्जित वीर। (८।६१)

३०५—सज्झाय-सज्झाण-रयस्स ताइणो
अपाव-भावस्स तवे रयस्स ।
विसुज्झई जंसि मलं पुरेकडं
समीरियं रुप्प-मलं व जोइणा ॥(८।६२)

३०६—सुह - सायगस्स समणस्स
साया-उलगस्स निगाम-साइस्स ।
उच्छोलणापहोइस्स
दुलहा सुग्गइ तारिसगस्स ॥ (४।२६)

३०७—तवोगुण - पहाणस्स
उज्जुमइ खंति -संजम-रयस्स ।
परीसहे जिणंतस्स
सुलहा सुग्गइ तारिसगस्स ॥ (४।२७)

३०८—जे यावि चंडे मइ-इड्ढि-गारवे
पिसुणे नरे साहस हीण-पेसणे ।
अदिट्ठ-धम्मे विणए अकोविए
असंविभागी न हु तस्स मोक्खो ॥(६।२।२२)

३०५—स्वाध्याय और सद्ध्यान में लीन, त्राता, निष्पाप मन वाले और तप में रत मुनि का पूर्व-संचित मल उसी प्रकार विशुद्ध होता है, जिस प्रकार अग्नि द्वारा तपाए हुए सोने का मल। (८।६२)

३०६—जो श्रमण सुख का रसिक, सात के लिए आकुल, अकाल में सोने वाला और हाथ, पैर आदि को बार-बार धोने वाला होता है, उसके लिए सुगति दुर्लभ है। (४।२६)

३०७—जो श्रमण तपोगुण से प्रधान, ऋजुमति, क्षांति तथा संयम में रत और परीषहों को जीतने वाला होता है, उसके लिए सुगति सुलभ है। (४।२७)

३०८—जो नर चण्ड है, जिसे बुद्धि और ऋद्धि का गर्व है, जो पिशुन है, जो साहसिक है, जो गुरु की आज्ञा का यथासमय पालन नहीं करता, जो अदृष्ट (अज्ञात) धर्मा है, जो विनय में अकोविद है, जो असंविभागी है, उसे मोक्ष प्राप्त नहीं होता। (९।२।२२)

३०९—दुक्कराइं करेत्ताणं
दुस्सहाइं सहेत्तु य।
केइत्थ देवलोएसु
केई सिज्झंति नीरया ॥ (३।१४)

३१०—खवित्ता पुव्व-कम्माइं
संजमेण तवेण य।
सिद्धिमग्गमणुप्पत्ता
ताइणो परिनिव्वुडा ॥ (३।१५)

३११—से तारिसे दुक्ख-सहे जिइंदिए
सुएण जुत्ते अममे अकिंचणे।
विरायई कम्म-घणम्मि अवगए
कसिणब्भ-पुडावगमे व चंदिमा ॥(८।६३)

३१२—खवेंति अप्पाणममोह-दंसिणो
तवे रया संजम अज्जवे गुणे।
धुणंति पावाइं पुरे-कडाइं
नवाइ पावाइं न ते करेंति ॥ (६।६७)

३०९—दुष्कर को करते हुए और दुःसह को सहते हुए उन निर्ग्रन्थों में से कई देवलोक जाते हैं और कई नीरज—कर्म-रहित हो सिद्ध होते हैं। (३।१४)

३१०—स्व और पर के त्राता निर्ग्रन्थ संयम और तप द्वारा पूर्व-संचित कर्मों का क्षयकर, सिद्धि-मार्ग को प्राप्तकर, परिनिर्वृत—मुक्त होते हैं। (३।१५)

३११—जो पूर्वोक्त गुणों से युक्त है, दुःखों को सहन करने वाला है, जितेन्द्रिय है, श्रुतवान् है, ममत्व-रहित और अकिंचन है, वह कर्मरूपी बादलों के दूर होने पर उसी प्रकार शोभित होता है, जिस प्रकार सम्पूर्ण अभ्रपटल से वियुक्त चन्द्रमा। (८।६३)

३१२—अमोहदर्शी, तप, संयम और ऋजुतारूप गुण में रत मुनि शरीर को कृश कर देते हैं। वे पुराकृत पाप का नाश करते हैं और नए पाप नहीं करते। (६।६७)

३१३—सओवसंता अममा अकिंचणा
सविज्ज-विज्जाणुगया जसंसिणो ।
उउप्पसन्ने विमले व चंदिमा
सिद्धिं विमाणाइ उवेंति ताइणो ॥ (६।६८)

३१३—सदा उपशान्त, ममता-रहित, अकिंचन, आत्म विद्या के ज्ञान से युक्त, यशस्वी और त्राता मुनि शरद्-ऋतु के चन्द्रमा की तरह निर्मल होकर सिद्धि या सौधर्मा-वतंसक आदि विमानों को प्राप्त करते हैं। (६।६८)

३५ : अणायार

३१४—संजमे सुट्ठिअप्पाणं
विप्पमुक्काण ताइणं ।
तेसिमेयमणाइण्णं
निग्गंथाण महेसिणं ॥(३।१)

३१५—उद्देसियं कीयगडं
नियागमभिहडाणि य ।
राइभत्ते सिणाणे य
गंध-मल्ले य वीयणे ॥(३।२)

३५ : अनाचार

३१४—जो संयम में सुस्थितात्मा है, जो विप्रमुक्त है, जो त्राता है—उन निर्ग्रन्थ महर्षियों के लिए ये (निम्न-लिखित) अनाचीर्ण हैं (अग्राह्य हैं, असेव्य हैं, अकरणीय हैं) । (३।१)

३१५—औद्देशिक—निर्ग्रन्थ के निमित्त बनाया गया।

क्रीतकृत—निर्ग्रन्थ के निमित्त खरीदा गया।

नित्याग्र—आदर-पूर्वक निमंत्रित कर प्रतिदिन दिया जाने वाला आहार।

अभिहृत—निर्ग्रन्थ के निमित्त दूर से सम्मुख लाया गया।

रात्रि-भक्त—रात्रि-भोजन।

स्नान—नहाना।

गंध—गंध सूंघना या गन्ध-द्रव्य का विलेपन करना।

माल्य—माला पहनना।

वीजन—पंखा झलना। (३।२)

३१६—सन्निही गिहिमत्ते य
रायपिंडे किमिच्छए ।
संबाहणा दंतपहोयणा य
संपुच्छणा देहपलोयणा य ॥ (३।३)

३१७—अट्ठावए य नालीय
छत्तस्स य धारणट्ठाए ।
तेगिच्छं पाणहा पाए
समारंभं च जोइणो ॥ (३।४)

३१८—सेज्जायरपिंडं च
आसंदी पलियंकए ।
गिहंतरनिसेज्जा य
गायस्सुव्वट्टणाणि य ॥ (३।५)

३१६—सन्निधि—खाद्य-वस्तु का संग्रह करना—रात-वासी रखना।
गृहि-अमत्र—गृहस्थ के पात्र में भोजन करना।
राजपिण्ड—मूर्वाभिषिक्त राजा के घर से भिक्षा लेना।
किमिच्छक—कौन क्या चाहता है? यों पूछकर दिया जाने वाला राजकीय भोजन आदि लेना।
संबाधन—अङ्ग-मर्दन।
दंत-प्रधावन—दाँत पखारना।
संप्रच्छन—गृहस्थ से कुशल पूछना (संप्रोञ्छन-शरीर के अवयवों को पोंछना)।
देह-प्रलोकन—दर्पण आदि में शरीर देखना। (३।३)

३१७—अष्टापद—शतरंज खेलना।
नालिका—नलिका से पासा डालकर जुआ खेलना।
छत्र—विशेष प्रयोजन के बिना छत्र धारण करना।
चैकित्स्य—रोग का प्रतिकार करना, चिकित्सा करना।
उपानत्—पैरों में जूते पहनना।
ज्योतिः-समारम्भ—अग्नि जलाना। (३।४)

३१८—शय्यातर-पिण्ड—स्थान—दाता के घर से भिक्षा लेना।
आसंदी-पर्यंक—मंचिका और पलंग पर बैठना।
गृहान्तर-निषद्या—भिक्षा करते समय गृहस्थ के घर बैठना।
गात्र-उद्वर्त्तन—उबटन करना। (३।५)

३१९—गिहिणो वेयावडियं
जा य आजीववित्तिया ।
तत्तानिव्वुडभोइत्तं
आउरस्सरणाणि य ॥ (३।६)

३२०—मूलए सिंगबेरे य
उच्छुखंडे अनिव्वुडे ।
कंदे मूले य सच्चित्ते
फले बीए य आमए ॥ (३।७)

३२१—सोवच्चले सिंधवे लोणे
रोमालोणे य आमए ।
सामुद्दे पंसुखारे य
कालालोणे य आमए ॥ (३।८)

३१६—गृहि-वैयापृत्य—गृहस्थ के व्यापार में प्रवृत्त होना।
आजीववृत्तिता—जाति, कुल, गण, शिल्प और कर्म का अवलम्बन ले भिक्षा प्राप्त करना।
तप्तानिर्वृतभोजित्व—अर्द्धपक्व सजीव वस्तु का उपभोग करना।
आतुर-स्मरण—आतुर-दशा में भुक्त-भोगों का स्मरण करना। (३।६)

३२०—अनिर्वृत मूलक—सजीव मूली,
अनिर्वृत शृङ्गबेर—सजीव अदरक,
अनिर्वृत इक्षु-खण्ड—सजीव इक्षु-खण्ड,
सचित्त कंद—सजीव कंद,
सचित्त मूल—सजीव मूल,
आमक फल—अपक्व फल और
आमक बीज—अपक्व बीज—लेना व खाना। (३।७)

३२१—आमक सौवर्चल—अपक्व सौवर्चल नमक,
सैन्धव—अपक्व सैन्धव नमक,
रुमा लवण—खान का अपक्व नमक,
सामुद्र—समुद्र का अपक्व नमक,
पांशु क्षार—ऊषर-भूमि का अपक्व नमक और
काल-लवण—अपक्व कृष्ण नमक—लेना व खाना। (३।८)

३२२—धूव-णेत्ति वमणे य
वत्थीकम्म विरेयणे ।
अंजणे दंतवणे य
गायाभंग विभूसणे ॥ (३।६)

३२३—जाइं चत्तारिऽभोज्जाइं
इसिणा - हारमाईणि ।
ताइं तु विवज्जंतो
संजमं अणुपालए ॥ (६।४६)

३२४—पिंडं सेज्जं च वत्थं च
चउत्थं पायमेव य ।
अकप्पियं न इच्छेज्जा
पडिगाहेज्ज कप्पियं ॥ (६।४७)

३२२—धूमनेत्र—धूम्रपान की नलिका से धूम्रपान करना।
रोग की संभावना से बचने तथा बल-रूप आदि को बनाए रखने के लिए—
वमन—वमन करना।
वस्तिकर्म—अपान-मार्ग से तैल आदि चढ़ाना।
विरेचन—विरेचन करना।
अंजन—आँखों में अञ्जन आंजना।
दंतवण—दाँतों को दतौन से घिसना।
गात्र-अभ्यंग—तैल-मर्दन करना।
विभूषण—शरीर को अलंकृत करना। (३।९)

३२३—ऋषि के लिए जो आहार आदि चार (निम्न श्लोकोक्त) अकल्पनीय हैं, उनका वर्जन करता हुआ मुनि संयम का पालन करे। (६।४६)

३२४—मुनि अकल्पनीय पिण्ड, शय्या—वसति, वस्त्र और पात्र को ग्रहण करने की इच्छा न करे। किन्तु कल्पनीय ग्रहण करे। (६।४७)

३६ : कीयमुद्देसिय आइ

३२५—जे नियागं ममायंति
कीयमुद्देसियाहडं ।
वहं ते समणुजाणंति
इइ वुत्तं महेसिणा ॥ (६।४८)

३२६—तम्हा असण-पाणाइं
कीयमुद्देसियाहडं ।
वज्जयंति ठियप्पाणो
निग्गंथा धम्म-जीविणो ॥ (६।४९)

३६ : औद्देशिक, क्रीतकृत आदि

३२५—जो नित्याग्र, क्रीत, औद्देशिक और आहृत आहार ग्रहण करते हैं, वे प्राणि-वध का अनुमोदन करते हैं—ऐसा महर्षि महावीर ने कहा है। (६।४८)

३२६—इसलिए धर्मजीवी, स्थितात्मा निर्ग्रन्थ क्रीत, औद्देशिक और आहृत अशन, पान आदि का वर्जन करते हैं। (६।४९)

३७ : राईभोयण-वज्जण

३२७—अहो निच्चं तवो-कम्मं
सव्व-बुद्धेहिं वण्णियं ।
जा य लज्जा-समा वित्ती
एग-भत्तं च भोयणं ॥ (६।२२)

३२८—संतिमे सुहुमा पाणा
तसा अदुव थावरा ।
जाइं राओ अपासंतो
कहमेसणियं चरे ? ॥ (६।२३)

३२९—उदउल्लं बीय-संसत्तं
पाणा-निवडिया महिं ।
दिया ताइं विवज्जेज्जा
राओ तत्थ कहं चरे ? ॥ (६।२४)

३७ : रात्रिभोजन-वर्जन

३२७—आश्चर्य है कि सभी तीर्थंकरों ने श्रमणों के लिए नित्य तपः-कर्म—संयम के अनुकूल वृत्ति (देह-पालन) और एक बार भोजन करने का उपदेश दिया है। (६।२२)

३२८—जो त्रस और स्थावर सूक्ष्म प्राणी हैं, उन्हें रात्रि में नहीं देखता हुआ निर्ग्रन्थ विधि-पूर्वक कैसे चल सकता है ? (६।२३)

३२९—उदक से आर्द्र और बीजयुक्त भोजन तथा जीवाकुल मार्ग दिन में टाला जा सकता है पर रात में उन्हें टालना शक्य नहीं, इसलिए निर्ग्रन्थ रात को वहाँ कैसे जा सकता है ? (६।२४)

३३०—एयं च दोषं दट्ठूणं
नायपुत्तेण भासियं।
सव्वाहारं न भुंजंति
निग्गंथा राइ-भोयणं॥ (६।२५)

२३०—ज्ञातपुत्र महावीर ने इस हिंसात्मक दोष को देखकर कहा—जो निर्ग्रन्थ होते हैं, वे रात्रि-भोजन नहीं करते, चारों प्रकार के आहार में से किसी भी प्रकार का आहार नहीं करते। (६।२५)

३८ : सिणाण-वज्जण

३३१—वाहिओ वा अरोगी वा
सिणाणं जो उ पत्थए।
वोक्कंतो होइ आयारो
जढो हवइ संजमो ॥ (६।६०)

३३२—संतिमे सुहुमा पाणा
घसासु भिलुगासु य।
जे उ भिक्खू सिणायंतो
वियडेणुप्पिलावए ॥ (६।६१)

३३३—तम्हा ते न सिणायंति
सीएण उसिणेण वा।
जावज्जीवं वयं घोरं
असिणाणमहिट्ठगा ॥ (६।६२)

३८ : स्नान-वर्जन

३३१—जो रोगी या निरोग साधु स्नान करने की अभिलाषा करता है, उसके आचार का उल्लंघन होता है, उसका संयम परित्यक्त होता है। (६।६०)

३३२—यह बहुत स्पष्ट है कि पोली भूमि और दरार-युक्त भूमि में सूक्ष्म प्राणी होते हैं। प्रासुक जल से स्नान करने वाला भिक्षु भी उन्हें जल से प्लावित करता है। (६।६१)

३३३—इसलिए मुनि शीत या ऊष्ण जल से स्नान नहीं करते। वे जीवन-पर्यन्त घोर अस्नान-व्रत का पालन करते हैं। (६।६२)

३३४—सिणाणं अदुवा कक्कं
लोद्धं पउमगाणि य ।
गायस्सुव्वट्टणट्ठाए
नायरंति कयाइ वि ॥ (६।६३)

३३४—मुनि शरीर का उबटन करने के लिए गन्ध-चूर्ण, कल्क (सुगंधित उबटन), लोध्र, पद्म-केशर आदि का प्रयोग नहीं करते। (६।६३)

३६ : गिहिपाए-वज्जण

३३५—कंसेसु कंस - पाएसु
कुंड-पोएसु वा पुणो ।
भुंजंतो असण-पाणाइं
आयारा परिभस्सइ ॥ (६।५०)

३३६—सीओदग - समारंभे
मत्त - धोयण - छड्डणे ।
जाइं छन्नंति भूयाइं
दिट्ठो तत्थ असंजमो ॥ (६।५१)

३३७—पच्छाकम्मं पुरेकम्मं
सिया तत्थ न कप्पई ।
एयमट्ठं न भुंजंति
निग्गंथा गिहि-भायणे ॥ (६।५२)

३६ : गृहिपात्र-वर्जन

३३५—जो गृहस्थ के काँसे के प्याले, काँसे के पात्र और कुण्डमोद (काँसे के बने कुण्डे के आकार वाले बर्तन) में अशन, पान आदि खाता है, वह श्रमण के आचार से भ्रष्ट होता है। (६।५०)

३३६—बर्तनों को सचित्त जल से धोने में और बर्तनों के धोए हुए पानी को डालने में प्राणियों की हिंसा होती है। तीर्थंकरों ने वहाँ असंयम देखा है। (६।५१)

३३७—गृहस्थ के बर्तन में भोजन करने से 'पश्चात्-कर्म' और 'पुरः-कर्म' की सम्भावना है। वह निर्ग्रन्थ के लिए कल्प्य नहीं है। एतदर्थ वे गृहस्थ के बर्तन में भोजन नहीं करते। (६।५२)

४० : आसंदी-वज्जण

३३८—आसंदी - पलियंकेसु
मंचमासालएसु वा ।
अणायरियमज्जाणं
आसइत्तु सइत्तु वा ।। (६।५३)

३३९—नासंदी - पलियंकेसु
न निसेज्जा न पीढए ।
निग्गंथा पडिलेहाए
बुद्ध-वुत्तमहिट्ठगा ।। (६।५४)

३४०—गंभीर - विजया एए
पाणा दुप्पडिलेहगा ।
आसंदी - पलियंका य
एयमट्ठं विवज्जिया ।। (६।५५)

४० : आसंदी-वर्जन

३३८—आर्य मुनियों के लिए आसंदी, मंच और आसालक (अवष्टम्भ सहित आसन) पर बैठना या सोना अनाचीर्ण है। (६।५३)

३३९—जिन-वाणी का आचरण करने वाले निर्ग्रन्थ आसंदी, पलंग, आसन और पीढे का प्रतिलेखन किए बिना उन पर न बैठे और न सोए[1]। (६।५४)

३४०—आसंदी, पर्यंक आदि गम्भीर-छिद्र वाले होते हैं। इनमें प्राणियों का प्रतिलेखन करना कठिन होता है। इसलिए उन पर बैठना या सोना वर्जित किया है। (६।५५)

१—साधारणतया आसंदी आदि पर बैठने का निषेध है। निषेध का कारण ५५ वें श्लोक में बताया गया है। ५४ वाँ श्लोक अपवाद श्लोक है। इसमें बैठने का जो विधान है, वह विशेष परिस्थिति में ही है। स्थविर अगस्त्यसिंह के अनुसार यह श्लोक कुछ परम्पराओं में मान्य नहीं था।

४१ : निसेज्जा-वज्जण

३४१—गोयरग्ग - पविट्ठस्स
निसेज्जा जस्स कप्पई ।
इमेरिसमणायारं
आवज्जइ अबोहियं ॥ (६।५६)

३४२—विवत्ती बंभचेरस्स
पाणाणं अवहे वहो ।
वणीमग-पडिग्घाओ
पडिकोहो अगारिणं ॥ (६।५७)

३४३—अगुत्ती बंभचेरस्स
इत्थीओ यावि संकणं ।
कुसील-वड्ढणं ठाणं
दूरओ परिवज्जए ॥ (६।५८)

४१ : निषद्या-वर्जन

३४१—भिक्षा के लिए प्रविष्ट जो मुनि गृहस्थ के घर में बैठता है, वह इस प्रकार के आगे कहे जाने वाले, अबोधि-कारक अनाचार को प्राप्त होता है। (६।५६)

३४२—गृहस्थ के घर में बैठने से ब्रह्मचर्य की विपत्ति—विनाश, प्राणियों का अवधकाल में वध, भिक्षाचारों के अन्तराय और घर वालों को क्रोध उत्पन्न होता है। (६।५७)

३४३—वहाँ ब्रह्मचर्य असुरक्षित होता है और स्त्री के प्रति भी शंका उत्पन्न होती है। यह (गृहान्तर निषद्या) कुशील वर्धक स्थान है, इसलिए मुनि इसका दूर से वर्जन करे। (६।५८)

३४४—तिण्हमन्नयरागस्स
निसेज्जा जस्स कप्पई।
जराए अभिभूयस्स
वाहियस्स तवस्सिणो ॥ (६।५९)

३४४—जराग्रस्त, रोगी और तपस्वी—इन तीनों में से कोई भी साधु गृहस्थ के घर में बैठ सकता है। (६।५९)

४२ : गिही-वैयावच्च

३४५—न य केणइ उवाएणं
गिहिजोगं समायरे ॥ (८।२१)

३४६—गिहिणो वैयावडियं न कुज्जा
अभिवायणं वंदण पूयणं च ॥ (चू० २।९)

४२ : गृहि-वैयापृत्य

३४५—साध किसी उपाय से गृहस्थोचित कर्म का समाचरण न करे। (८।२१)

३४६—साधु गृहस्थ का वैयापृत्य न करे। अभिवादन, वंदन और पूजन न करे। (चू० २।९)

४३ : विभूसा-वज्जण

३४७—नगिणस्स वा वि मुंडस्स
दीह - रोम - नहंसिणो ।
मेहुणा उवसंतस्स
किं विभूसाए कारियं ? ॥ (६।६४)

३४८—विभूसा-वत्तियं भिक्खू
कम्मं बंधइ चिक्कणं ।
संसार-सायरे घोरे
जेणं पडइ दुरुत्तरे ॥ (६।६५)

३४९—विभूसा-वत्तियं चेयं
बुद्धा मन्नंति तारिसं ।
सावज्ज-बहुलं चेयं
नेयं ताईहिं सेवियं ॥ (६।६६)

४३ : विभूषा-वर्जन

३४७—नग्न, मुण्ड, दीर्घ-रोम और नख वाले तथा मैथुन से निवृत्त मुनि को विभूषा से क्या प्रयोजन है ? (६।६४)

३४८—विभूषा के द्वारा भिक्षु चिकने (दारुण) कर्म का बन्धन करता है। उससे वह दुस्तर संसार-सागर में गिरता है। (६।६५)

३४९—विभूषा में प्रवृत्त मन को तीर्थङ्कर विभूषा के तुल्य ही चिकने कर्म के बन्धन का हेतु मानते हैं। यह प्रत्युत पाप-युक्त है। यह छह काय के त्राता मुनियों द्वारा आसेवित नहीं है। (६।६६)

३५०—सव्वमेयमणाइण्णं
निग्गंथाण महेसिणं ।
संजमम्मि य जुत्ताणं
लहुभूयविहारिणं ॥ (३।१०)

३५०—ये सब महर्षि निर्ग्रन्थों के लिए—जो संयम में लीन और वायु की तरह मुक्त विहारी हैं—अनाचीर्ण हैं। (३।१०)

४४ : मुणी-चरिया

३५१—तम्हा आयार-परक्कमेण
संवर-समाहि - बहुलेणं ।
चरिया गुणा य नियमा य
होंति साहूण दट्ठव्वा ।। (चू० २।४)

३५२—अणिएय-वासो समुयाण-चरिया
अन्नाय-उंछं पइरिक्कया य ।
अप्पोवही कलह-विवज्जणा य
विहार-चरिया इसिणं पसत्था ।। (चू० २।५)

३५३—आइण्ण-ओमाण-विवज्जणा य
ओसन्न-दिट्ठाहड-भत्त-पाणे ।
संसट्ठ-कप्पेण चरेज्ज भिक्खू
तज्जाय-संसट्ठ जई जएज्जा ।। (चू० २।६)

४४ : मुनि-चर्या

३५१—इसलिए आचार में पराक्रम करने वाले, संवर में प्रभूत समाधि रखने वाले साधुओं को चर्या, गुणों तथा नियमों की ओर दृष्टिपात करना चाहिए। (चू० २।४)

३५२—अनिकेतवास (गृहवास का त्याग), समुदान चर्या (अनेक कुलों से भिक्षा लेना), अज्ञात कुलों से भिक्षा लेना, एकान्तवास, उपकरणों की अल्पता और कलह का वर्जन—यह विहार-चर्या (जीवन-चर्या) ऋषियों के लिए प्रशस्त है। (चू० २।५)

३५३—आकीर्ण[1] और अवमान[2] नामक भोज का विवर्जन और प्रायः दृष्ट स्थान से लाए हुए भक्त-पान का ग्रहण ऋषियों के लिए प्रशस्त है। भिक्षु संसृष्ट हाथ और पात्र से भिक्षा ले। दाता जो वस्तु दे रहा है, उसी से संसृष्ट हाथ और पात्र से भिक्षा लेने का यत्न करे। (चू० २।६)

1. बहुत भीड़ वाला भोज।
2. निश्चित गणना से अधिक उपस्थिति वाला भोज।

३५४—अमज्ज-मंसासि अमच्छरीया
अभिक्खणं निव्विगइं गया य।
अभिक्खणं काउस्सग्गकारी
सज्झाय-जोगे पयओ हवेज्जा ॥ (चू० २।७)

३५५—आयावयंति गिम्हेसु
हेमंतेसु अवाउडा।
वासासु पडिसंलीणा
संजया सुसमाहिया ॥ (३।१२)

३५६—निद्दं च न बहुमन्नेज्जा
संपहासं विवज्जए।
मिहो-कहाहिं न रमे
सज्झायम्मि रओ सया ॥ (८।४१)

३५४—साधु मद्य और मांस का अभोजी, अमत्सरी, बार-बार विकृतियों को न खाने वाला, बार-बार कायोत्सर्ग करने वाला और स्वाध्याय के लिए विहित तपस्या में प्रयत्नशील हो। (चू० २।७)

३५५—सुसमाहित निर्ग्रन्थ ग्रीष्म में सूर्य की आतापना लेते हैं, हेमन्त में खुले बदन रहते हैं और वर्षा में प्रतिसंलीन होते हैं—एक स्थान में रहते हैं। (३।१२)

३५६—निद्रा को बहुमान न दे, अट्टहास का वर्जन करे, मैथुन की कथा में रमण न करे, सदा स्वाध्याय में रत रहे। (८।४१)

४५ : विणय-समाही

३५७—चउव्विहा खलु विणय-समाही भवइ तंजहा—

(१) अणुसासिज्जंतो सुस्सूसइ

(२) सम्मं संपडिवज्जइ

(३) वेयमाराहयइ

(४) न य भवइ अत्त-संपग्गहिए ॥

(६।४।सू० ४)

३५८—पेहेइ हियाणुसासणं
सुस्सूसइ तं च पुणो अहिट्ठए।
न य माण-मएण मज्जइ
विणय-समाही आययट्ठिए ॥

(६।४।सू० ४ श्लो० २)

४५ : विनय-समाधि

३५७—विनय-समाधि के चार प्रकार हैं, जैसे—

(१) शिष्य आचार्य के अनुशासन को सुनना चाहता है।

(२) अनुशासन को सम्यग् रूप से स्वीकार करता है।

(३) वेद (अनुशासन) की आराधना करता है।

(४) आत्मोत्कर्ष (गर्व) नहीं करता। (६।४।सू० ४)

३५८—मोक्षार्थी मुनि—

(१) हितानुशासन की अभिलाषा करता है—सुनना चाहता है।

(२) शुश्रूषा करता है—अनुशासन को सम्यग् रूप से ग्रहण करता है।

(३) अनुशासन के अनुकूल आचरण करता है।

(४) मैं विनय-समाधि में कुशल हूँ—इस प्रकार गर्व के उन्माद से उन्मत्त नहीं होता। (६।४।सू० ४ श्लो०२)

३५६—मूलाओ खंध-प्पभवो दुमस्स
खंधाओ पच्छा समुवेंति साहा।
साहप्प-साहा विरुहंति पत्ता
तओ से पुप्फं च फलं रसो य॥(६।२।१)

३६०—एवं धम्मस्स विणओ
मूलं परमो से मोक्खो।
जेण कित्तिं सुयं सिग्घं
निस्सेसं चाभिगच्छई॥ (६।२।२)

३६१—जे य चंडे मिए थद्धे
दुव्वाई नियडी सढे।
वुज्झइ से अविणीयप्पा
कट्ठं सोयगयं जहा॥(६।२।३)

३६२—विणयं पि जो उवाएणं
चोइओ कुप्पई नरो।
दिव्वं सो सिरिमेज्जंति
दंडेण पडिसेहए॥ (६।२।४)

३५६—वृक्ष के मूल से स्कन्ध उत्पन्न होता है, स्कन्ध के पश्चात् शाखाएँ आती हैं, शाखाओं में से प्रशाखाएँ निकलती हैं। उसके पश्चात् पत्र, पुष्प, फल और रस होता है (६।२।१)

३६०—इसी प्रकार धर्म का मूल है 'विनय' और उसका परम (अन्तिम) फल है मोक्ष। विनय के द्वारा मुनि कीर्त्ति, श्लाघनीय-श्रुत और समस्त इष्ट तत्त्वों को प्राप्त होता है। (६।२।२)

३६१—जो चण्ड, अज्ञ (मृग), स्तब्ध, अप्रियवादी, मायावी और शठ है, वह अविनीतात्मा संसार-स्रोत में वैसे ही प्रवाहित होता रहता है, जैसे नदी के स्रोत में पड़ा हुआ काठ। (६।२।३)

३६२—विनय में उपाय के द्वारा भी प्रेरित करने पर जो कुपित होता है, वह आती हुई दिव्य लक्ष्मी को डण्डे से रोकता है। (६।२।४)

३६३—जे आयरिय-उवज्झायाणं
सुस्सूसा - वयणंकरा।
तेसिं सिक्खा पवड्ढंति
जल-सित्ता इव पायवा ॥ (९।२।१२)

३६४—अप्पणट्ठा परट्ठा वा
सिप्पा णेउणियाणि य।
गिहिणो उवभोगट्ठा
इहलोग्गस्स कारणा ॥ (९।२।१३)

३६५—जेण बंधं वहं घोरं
परियावं च दारुणं।
सिक्खमाणा नियच्छंति
जुत्ता ते ललिइंदिया ॥ (९।२।१४)

३६६—ते वि तं गुरुं पूयंति
तस्स सिप्पस्स कारणा।
सक्कारेंति नमंसंति
तुट्ठा निद्देस-वत्तिणो ॥ (९।२।१५)

३६३—जो मुनि आचार्य और उपाध्याय की शुश्रूषा और आज्ञा-पालन करते हैं, उनकी शिक्षा उसी प्रकार बढ़ती है, जैसे जल से सींचे हुए वृक्ष। (९।२।१२)

३६४—जो गृही अपने या दूसरों के लिए, लौकिक उपभोग के निमित्त शिल्प और नैपुण्य सीखते हैं, (९।२।१३)

३६५—वे शिल्प-ग्रहण करने में लगे हुए पुरुष, ललितेन्द्रिय होते हुए भी शिक्षा-काल में घोर बन्ध, वध और दारुण परिताप को प्राप्त होते हैं। (९।२।१४)

३६६—वे भी उस शिल्प के लिए उस गुरु की पूजा करते हैं, सत्कार करते हैं, नमस्कार करते हैं और संतुष्ट होकर उसकी आज्ञा का पालन करते हैं। (९।२।१५)

३६७—किं पुण जे सुय-ग्गाही
अणंत - हिय - कामए।
आयरिया जं वए भिक्खू
तम्हा तं नाइवत्तए॥ (९।२।१६)

३६८—जस्संतिए धम्म-पयाइ सिक्खे
तस्संतिए वेणइयं पउंजे।
सक्कारए सिरसा पंजलीओ
कायग्गिरा भो मणसा य निच्चं॥ (९।१।१२)

३६९—राइणिएसु विणयं पंउजे॥ (८।४०)

३७०—विवत्ती अविणीयस्स
संपत्ती विणियस्स य।
जस्सेयं दुहओ नायं
सिक्खं से अभिगच्छइ॥ (९।२।२१)

३६७—जो आगम-ज्ञान को पाने में तत्पर और अनन्त हित (मोक्ष) का इच्छुक है, उसका फिर कहना ही क्या ? इसलिए आचार्य जो कहे भिक्षु उसका उल्लंघन न करे। (६।२।१६)

३६८—जिसके समीप धर्म-पदों की शिक्षा लेता है, उसके समीप विनय का प्रयोग करे। शिर को झुकाकर हाथों को जोड़कर (पञ्चाङ्ग वन्दन कर) काया, वाणी और मन से सदा सत्कार करे। (६।१।१२)

३६९—रात्निकों (आचार्य, उपाध्याय और दीक्षा-पर्याय में ज्येष्ठ साधुओं) के प्रति विनय का प्रयोग करे। (८।४०)

३७०—अविनीत के विपत्ति और विनीत के सम्पत्ति होती है—ये दोनों जिसे ज्ञात है, वही शिक्षा को प्राप्त होता है। (६।२।२१)

३७१—निद्देस-वत्ती पुण जे गुरूणं
सुयत्थ-धम्मा विणयम्मि कोविया ।
तरित्तु ते ओहमिणं दुरुत्तरं
खवित्तु कम्मं गइमुत्तमं गय ॥ (९।२।२३)

३७१—और जो गुरु के आज्ञाकारी हैं, जो गीतार्थ हैं, जो विनय में कोविद् हैं, वे इस दुस्तर संसार-समुद्र को तर कर कर्मों का क्षयकर उत्तम गति को प्राप्त होते हैं। (६।२।२३)

४६ : विणयाविणय

३७२—थंभा व कोहा व मय-प्पमाया
गुरुस्सगासे विणयं न सिक्खे ।
सो चेव उ तस्स अभूइभावो
फलं व कीयस्स वहाय होइ ॥ (६।१।१)

३७३—जे यावि मंदि त्ति गुरुं विइत्ता
डहरे इमे अप्पसुए त्ति नच्चा ।
हीलंति मिच्छं पडिवज्जमाणा
करेंति आसायण ते गुरूणं ॥ (६।१।२)

३७४—तहेव अविणीयप्पा
उववज्झा हया गया ।
दीसंति दुहमेहंता
आभिओगमुवट्ठिया ॥ (६।२।५)

४६ : विनय और अविनय

३७२—जो मुनि गर्व, क्रोध, माया या प्रमादवश गुरु के समीप विनय की शिक्षा नहीं लेता, वही (विनय की अशिक्षा) उसके विनाश के लिए होती है, जैसे—कीचक (बांस) का फल उसके वध के लिए होता है। (६।१।१)

३७३—जो मुनि गुरु को—यह मंद है, यह अल्पवयस्क और अल्प-श्रुत है—ऐसा जानकर उसके उपदेश को मिथ्या मानते हुए उसकी अवहेलना करते हैं, वे गुरु की आशातना करते हैं। (६।१।२)

३७४—जो औपवाह्य (चढ़ने योग्य) घोड़े और हाथी अविनीत होते हैं, वे आभियोग्य (भार-वहन) के लिए बाध्य किए जाने पर दुःख का अनुभव करते हुए देखे जाते हैं। (६।२।५)

३७५—तहेव सुविणीयप्पा
उववज्झा हया गया।
दीसंति सुहमेहंता
इड्ढिं पत्ता महायसा॥ (६।२।६)

३७६—तहेव अविणीयप्पा
लोगंसि नर-नारिओ।
दीसंति दुहमेहंता
छाया विगलितेंदिया॥ (६।२।७)

३७७—दण्ड-सत्थ-परिजुण्णा
असब्भ वयणेहि य।
कलुणा विवन्नछंदा
खुप्पिवासाए परिगया॥ (६।२।८)

३७८—तहेव सुविणीयप्पा
लोगंसि नरनारिओ।
दीसंति सुहमेहंता
इड्ढिं पत्ता महायसा॥ (६।२।६)

३७५—जो औपवाह्य घोड़े और हाथी सुविनीत होते हैं, वे ऋद्धि और महान् यश को पाकर सुख का अनुभव करते हुए देखे जाते हैं। (६।२।६)

३७६—लोक में जो पुरुष और स्त्री अविनीत होते हैं, वे क्षत-विक्षत या दुर्बल, इन्द्रिय-विकल है। (६।२।७)

३७७—दण्ड और शस्त्र से जर्जर, असभ्य वचनों के द्वारा तिरस्कृत, करुण, परवश, भूख और प्यास से पीड़ित होकर दुःख का अनुभव करते हुए देखे जाते हैं। (६।२।८)

३७८—लोक में जो पुरुष या स्त्री सुविनीत होते हैं, वे ऋद्धि और महान् यश को पाकर सुख का अनुभव करते हुए देखे जाते हैं। (६।२।६)

३७६—तहेव अविणीयप्पा
देवा जक्खा य गुज्झगा ।
दीसंति दुहमेहंता
आभिओगमुवट्ठिया ॥ (६।२।१०)

३८०—तहेव सुविणीयप्पा
देवा जक्खा य गुज्झगा ।
दीसंति सुहमेहंता
इड्ढिं पत्ता महायसा ॥ (६।२।११)

३८१—दुग्गओ वा पओएणं
चोइओ वहई रहं ।
एवं दुबुद्धि किच्चाणं
वुत्तो वुत्तो पकुव्वई ॥ (६।२।१६)

३७९—जो देव, यक्ष और गुह्यक (भवनवासी देव) अविनीत होते हैं, वे सेवा-काल में दुःख का अनुभव करते हुए देखे जाते हैं (९।२।१०)

३८०—जो देव, यक्ष और गुह्यक सुविनीत होते हैं, वे ऋद्धि और महान् यश को पाकर सुख का अनुभव करते हुए देखे जाते हैं। (९।२।११)

३८१—जैसे दुष्ट बैल चाबुक आदि से प्रेरित होने पर रथ को वहन करता है, वैसे ही दुर्बुद्धि शिष्य आचार्य के बार-बार कहने पर कार्य करता है। (९।२।१९)

४७ : गुरु-पूया

३८२—पगईए मंदा वि भवंति एगे
डहरा वि य जे सुय-बुद्धोववेया ।
आयारमंता गुण-सुट्ठिअप्पा
जे हीलिया सिहिरिव भास कुज्जा ॥ (६।१।३)

३८३—जे यावि नागं डहरं ति नच्चा
आसायए से अहियाय होइ ।
एवायरियं पि हु हीलयंतो
नियच्छई जाइपहं खु मंदे ॥ (६।१।४)

३८४—आसीविसो यावि परं सुरुट्ठो
किं जीवनासाओ परं नु कुज्जा ।
आयरियपाया पुण अप्पसन्ना
अबोहि आसायण नत्थि मोक्खो ॥(६।१।५)

४७ : गुरु-पूजा

३८२—कई आचार्य स्वभाव से ही मंद होते हैं और कई अल्प-वयस्क होते हुए भी श्रुत और बुद्धि से सम्पन्न होते हैं। आचारवान् और गुणों में सुस्थितात्मा आचार्य अवमानित होने पर अग्नि की तरह गुण-राशि को भस्म कर डालते हैं। (६।१।३)

३८३—जो कोई—यह सर्प छोटा है—ऐसा जानकर उसकी आशातना (कदर्थना) करता है, वह (सर्प) उसके अहित के लिए होता है। इसी प्रकार अल्पवयस्क आचार्य की भी अवहेलना करने वाला मंद संसार में परिभ्रमण करता है। (६।१।४)

३८४—आशीविष सर्प अत्यन्त क्रुद्ध होने पर भी 'जीवन-नाश' से अधिक क्या (अहित) कर सकता है? परन्तु आचार्यपाद की अप्रसन्नता अबोधि (सम्यक्त्व का नाश) कर देती है। अतः गुरु की आशातना से मोक्ष नहीं मिलता। (६।२।५)

३८५—जो पावगं जलियमवक्कमेज्जा
आसीविसं वा वि हु कोवएज्जा ।
जो वा विसं खायइ जीवियट्ठी
एसोवमासायणया गुरूणं ॥ (९।१।६)

३८६—सिया हु से पावय नो डहेज्जा
आसीविसो वा कुविओ न भक्खे ।
सिया विसं हालहलं न मारे
न यावि मोक्खो गुरुहीलणाए ॥ (९।१।७)

३८७—जो पव्वयं सिरसा भेत्तुमिच्छे
सुत्तं व सीहं पडिबोहएज्जा ।
जो वा दए सत्ति-अग्गे पहारं
एसोवमासायणया गुरूणं ॥ (९।१।८)

३८८—सिया हु सीसेण गिरिं पि भिंदे
सिया हु सीहो कुविओ न भक्खे ।
सिया न भिंदेज्ज व सत्ति-अग्गं
न यावि मोक्खो गुरु-हीलणाए ॥ (९।१।९)

३८५—कोई जलती अग्नि को लांघता है, आशीविष सर्प को कुपित करता है और जीवित रहने की इच्छा से विष खाता है, गुरु की आशातना इनके समान है—ये जिस प्रकार हित के लिए नहीं होते, उसी प्रकार गुरु की आशातना हित के लिए नहीं होती। (९।१।६)

३८६—सम्भव है कदाचित् अग्नि न जलाए, सम्भव है आशी-विष सर्प कुपित होने पर भी न खाए और यह भी सम्भव है कि हलाहल विष भी न मारे, परन्तु गुरु की अवहेलना से मोक्ष सम्भव नहीं है। (९।१।७)

३८७—कोई शिर से पर्वत का भेदन करने की इच्छा करता है, सोए हुए सिंह को जगाता है और भाले की नोक पर प्रहार करता है, गुरु की आशातना इनके समान है। (९।१।८)

३८८—सम्भव है सिर से पर्वत को भी भेद डाले, सम्भव है सिंह कुपित होने पर भी न खाए और यह भी सम्भव है कि भाले की नोक भी भेदन न करे, पर गुरु की अव-हेलना से मोक्ष सम्भव नहीं है। (९।१।९)

३८९—आयरियपाया पुण अप्पसन्ना
अबोहि आसायण नत्थि मोक्खो ।
तम्हा अणाबाह-सुहाभिकंखी
गुरुप्पसायाभिमुहो रमेज्जा ॥(९।१।१०)

३९०—जहाहियग्गी जलणं नमंसे
नाणाहुईमंतपयाभिसित्तं ।
एवायरियं उवचिट्ठएज्जा
अणंतनाणोवगओ वि संतो ॥ (९।१।११)

३९१—जस्संतिए धम्म-पयाइ सिक्खे
तस्संतिए वेणइयं पउंजे ।
सक्कारए सिरसा पंजलीओ
कायग्गिरा भो मणसा य निच्चं ॥(९।१।१२)

३९२—लज्जा दया संजम बंभचेरं
कल्लाणभागिस्स विसोहि-ठाणं ।
जे मे गुरू सययमणुसासयंति
ते हं गुरू सययं पूययामि ॥ (९।१।१३)

३८९—आचार्यपाद के अप्रसन्न होने पर बोधि-लाभ नहीं होता, गुरु की आशातना से मोक्ष नहीं मिलता। इसलिए अनाबाध सुख चाहने वाला मुनि गुरु की प्रसन्नता के अभिमुख होकर रमण करे। (६।१।१०)

३९०—जैसे आहिताग्नि (अग्निहोत्री) ब्राह्मण विविध आहुति और मंत्रपदों से अभिषिक्त अग्नि को नमस्कार करता है, वैसे ही शिष्य अनन्तज्ञान-सम्पन्न होते हुए भी आचार्य की विनय-पूर्वक सेवा करे। (६।१।११)

३९१—जिसके समीप धर्म-पदों की शिक्षा लेता है, उसके समीप विनय का प्रयोग करे। शिर को झुकाकर हाथों को जोड़कर (पञ्चाङ्ग वन्दन कर) काया, वाणी और मन से सदा सत्कार करे। (६।१।१२)

३९२—लज्जा (अपवाद-भय) दया, संयम और ब्रह्मचर्य कल्याण-भागी साधु के लिए विशोधि-स्थल हैं। जो गुरु मुझे उनकी सतत शिक्षा देते हैं, उनकी मैं सतत पूजा करता हूँ। (६।१।१३)

३६३—जहा निसंते तवणच्चिमाली
पभासई केवलभारहं तु ।
एवायरिओ सुय-सील-बुद्धिए
विरायई सुरमज्झे व इंदो ॥ (६।१।१४)

३६४—जहा ससी कोमुइजोगजुत्तो
नक्खत्त-तारा-गण-परिवुडप्पा ।
खे सोहई विमले अब्भमुक्के
एवं गणी सोहइ भिक्खु-मज्झे ॥ (६।१।१५)

३६५—महागरा आयरिया महेसी
समाहि-जोगे सुय-सील-बुद्धिए ।
संपाविउकामे अणुत्तराइं
आराहए तोसए धम्म-कामी ॥ (६।१।१६)

३६६—सोच्चाण मेहावी सुभासियाइं
सुस्सूसए आयरियप्पमत्तो ।
आराहइत्ताण गुणे अणेगे
से पावई सिद्धिमणुत्तरं ॥ (६।१।१७

३६३—जैसे दिन में प्रदीप्त होता हुआ सूर्य सम्पूर्ण भरत-क्षेत्र को प्रकाशित करता है, वैसे ही श्रुत, शील और बुद्धि से सम्पन्न आचार्य विश्व को प्रकाशित करता है और जिस प्रकार देवताओं के बीच इन्द्र शोभित होता है, उसी प्रकार साधुओं के बीच आचार्य सुशोभित होता है। (६।१।१४)

३६४—जिस प्रकार मेघ-मुक्त विमल आकाश में नक्षत्र और तारागण से परिवृत, कार्तिक-पूर्णिमा में उदित चन्द्रमा शोभित होता है, उसी प्रकार भिक्षुओं के बीच गणी (आचार्य) शोभित होता है। (६।१।१५)

३६५—अनुत्तर-ज्ञान आदि गुणों की सम्प्राप्ति का इच्छुक मुनि धर्म का अर्थी होकर समाधि-योग, श्रुत, शील और बुद्धि के महान् आकर, मोक्ष की एषणा करने वाले आचार्य की आराधना करे और उन्हें प्रसन्न करे। (६।१।१६)

३६६—मेधावी मुनि इन सुभाषितों को सुनकर अप्रमत्त रहता हुआ आचार्य की शुश्रूषा करे। इस प्रकार वह अनेक गुणों की आराधना कर अनुत्तर-सिद्धि को प्राप्त करता है। (६।१।१७)

४८ : मुणी-कम्म

३६७—अमोहं वयणं कुज्जा
आयरियस्स महप्पणो ।
तं परिगिज्झ वायाए
कम्मुणा उववायए ॥ (८।३३)

३६८—हत्थं पायं च कायं च
पणिहाय जिइंदिए ।
अल्लीण-गुत्तो निसिए
सगासे गुरुणो मुणी ॥ (८।४४)

३६९—न पक्खओ न पुरओ
नेव किच्चाण पिट्ठओ ।
न य ऊरुं समासेज्जा
चिट्ठेज्जा गुरुणंतिए ॥ (८।४५)

४८ : मुनि का कर्त्तव्य

३६७—महान् आत्मा के धनी आचार्य के वचन को सफल करे। उसे वाणी से ग्रहण कर कर्म से उसका आचरण करे। (८।३३)

३६८—जितेन्द्रिय मुनि हाथ, पैर और शरीर को संयमितकर आलीन (न अतिदूर और न अतिनिकट) और गुप्त (मन और वाणी से संयत) होकर गुरु के समीप बैठे। (८।४४)

३६९—आचार्यों के बराबर न बैठे, आगे और पीछे भी न बैठे। गुरु के समीप उनके ऊरु से अपना ऊरु सटाकर न बैठे। (८।४५)

४००—नीयं सेज्जं गइं ठाणं
नीयं च आसणाणि य।
नीयं च पाए वंदेज्जा
नीयं कुज्जा य अजंलिं॥ (९।२।१७)

४०१—संघट्टइत्ता काएणं
तहा उवहिणामवि।
खमेह अवराहं मे
वएज्ज न पुणो त्ति य॥ (९।२।१८)

४०२—कालं छंदोवयारं च
पडिलेहित्ताण हेउहिं।
तेण तेण उवाएण
तं तं संपडिवायए॥ (९।२।२०)

४००—भिक्षु (आचार्य से) नीची शय्या करे, नीची गति करे, नीचे खड़ा रहे, नीचा आसन करे, नीचा होकर आचार्य के चरणों में वन्दना करे और नीचा होकर अंजलि करे—हाथ जोड़े। (९।२।१७)

४०१—अपनी काया से तथा उपकरणों से एवं किसी दूसरे प्रकार से आचार्य का स्पर्श हो जाने पर शिष्य इस प्रकार कहे—'आप मेरा अपराध क्षमा करें, मैं फिर ऐसा नहीं करूँगा।' (९।२।१८)

४०२—काल, अभिप्राय और आराधन-विधि को हेतुओं से जानकर, उस-उस (तदनुकूल) उपाय के द्वारा उस-उस प्रयोजन का सम्प्रतिपादन करे—पूरा करे। (९।२।२०)

४००—नीयं सेज्जं गइं ठाणं
नीयं च आसणाणि य।
नीयं च पाए वंदेज्जा
नीयं कुज्जा य अजंलिं ॥ (६।२।१७)

४०१—संघट्टइत्ता काएणं
तहा उवहिणामवि।
खमेह अवराहं मे
वएज्ज न पुणो त्ति य ॥ (६।२।१८)

४०२—कालं छंदोवयारं च
पडिलेहित्ताण हेउहिं।
तेण तेण उवाएण
तं तं संपडिवायए ॥ (६।२।२०)

४००—भिक्षु (आचार्य से) नीची शय्या करे, नीची गति करे, नीचे खड़ा रहे, नीचा आसन करे, नीचा होकर आचार्य के चरणों में वन्दना करे और नीचा होकर अंजलि करे—हाथ जोड़े। (६।२।१७)

४०१—अपनी काया से तथा उपकरणों से एवं किसी दूसरे प्रकार से आचार्य का स्पर्श हो जाने पर शिष्य इस प्रकार कहे—'आप मेरा अपराध क्षमा करें, मैं फिर ऐसा नहीं करूँगा।' (६।२।१८)

४०२—काल, अभिप्राय और आराधन-विधि को हेतुओं से जानकर, उस-उस (तदनुकूल) उपाय के द्वारा उस-उस प्रयोजन का सम्प्रतिपादन करे—पूरा करे। (६।२।२०)

४६ : विवेग

४०३—असंकिलिट्ठेहिं समं वसेज्जा
मुणी चरित्तस्स जओ न हाणी ।। (चू०२।६)

४०४—न या लभेज्जा निउणं सहायं
गुणाहियं वा गुणओ समं वा ।
एक्को वि पावाइं विवज्जयंतो
विहरेज्ज कामेसु असज्जमाणो ।। (चू०२।१०)

४०५—अनट्ठं पगडं लयणं
भएज्ज सयणासणं ।
उच्चार - भूमि - संपन्नं
इत्थी - पसु - विवज्जियं ।। (८।५१)

४६ : विवेक

४०३—मुनि संक्लेश-रहित साधुओं के साथ रहे, जिससे कि चरित्र की हानि न हो। (चू० २।६)

४०४—यदि कदाचित् अपने से अधिक गुणी अथवा अपने समान गुण वाला निपुण साथी न मिले तो पाप-कर्मों का वर्जन करता हुआ काम-भोगों में अनासक्त रह अकेला ही विहार करे। (चू० २।१०)

४०५—मुनि अन्यार्थ-प्रकृत (दूसरों के लिए बने हुए), मल-मूत्र की उत्सर्ग भूमि से युक्त, स्त्री और पशु से रहित गृह, शयन और आसन का सेवन करे। (८।५१)

४०६—संवच्छरं वावि परं पमाणं
बीयं च वासं न तहिं वसेज्जा ।
सुत्तस्स मग्गेण चरेज्ज भिक्खू
सुत्तस्स अत्थो जह आणवेइ ॥ (चू०२।११)

४०७—साणं सूइयं गाविं
दित्तं गोणं हयं गयं ।
संडिब्भं कलहं जुद्धं
दूरओ परिवज्जए ॥ (५।१।१२)

४०८—रन्नो गिहवईणं च
रहस्सारक्खियाण य ।
संकिलेसकरं ठाणं
दूरओ परिवज्जए ॥ (५।१।१६)

४०९—एलगं दारगं साणं
वच्छगं वावि कोट्ठए ।
उल्लंघिया न पविसे
विऊहित्ताण व संजए ॥ (५।१।२२)

४०६—जिस गाँव में मुनि काल के उत्कृष्ट प्रमाण तक (अर्थात् वर्षाकाल में चार मास और शेषकाल में एक मास) रह चुका हो, वहाँ दो वर्ष (दो चातुर्मास और दो मास) का अन्तर किए बिना न रहे। भिक्षु सूत्रोक्त मार्ग से चले, सूत्र का अर्थ जिस प्रकार आज्ञा दे, वैसे चले। (चू० २।११)

४०७—श्वान, व्याई हुई गाय, उन्मत्त बैल, अश्व और हाथी, बच्चों के क्रीडा-स्थल, कलह और युद्ध (के स्थान) को दूर से टाल कर जाय। (५।१।१२)

४०८—राजा, गृहपति और आरक्षिकों के रहस्य-स्थान (मंत्रणा-गृह) संक्लेशकर होते हैं, इसलिए मुनि उनसे दूर रहे—वहाँ न जाय। (५।१।१६)

४०९—मुनि भेड़, बच्चे, कुत्ते और बछड़े को लाँघकर या हटाकर कोठे में प्रवेश न करे। (५।१।२२)

४१०––समणं माहणं वा वि
किविणं वा वणीमगं ।
उवसंकमंतं भत्तट्ठा
पाणट्ठाए व संजए ॥ (५।२।१०)

४११––तं अइक्कमित्तु न पविसे
न चिट्ठे चक्खु-गोयरे ।
एगंतमवक्क - मित्ता
तत्थ चिट्ठेज्ज संजए ॥ (५।२।११)

४१२––वणीमगस्स वा तस्स
दायगस्सुभयस्स वा ।
अप्पत्तियं सिया होज्जा
लहुत्तं पवयणस्स वा ॥ (५।२।१२)

४१३––पडिसेहिए व दिन्ने वा
तओ तम्मि नियत्तिए ।
उवसंकमेज्ज भत्तट्ठा
पाणट्ठाए व संजए ॥ (५।२।१३)

४१०—श्रमण, ब्राह्मण, कृपण या वनीपक भक्त या पान के लिए उपसंक्रमण कर रहा हो, (५।२।१०)

४११—उसको लाँघकर संयमी मुनि गृहस्थ के घर में प्रवेश न करे। गृहस्वामी और श्रमण आदि की आँखों के सामने खड़ा भी न रहे। किन्तु एकान्त में जाकर खड़ा हो जाए। (५।२।११)

४१२—भिक्षाचरों को लाँघकर घर में प्रवेश करने पर वनीपक या गृह-स्वामी को अथवा दोनों को अप्रेम हो सकता है अथवा उससे प्रवचन की लघुता हो सकती है। (५।२।१२)

४१३—गृहस्वामी द्वारा प्रतिषेध करने या दान दे देने पर, वहाँ से उनके वापस चले जाने के पश्चात् संयमी मुनि भक्त-पान के लिए प्रवेश करे। (५।२।१३)

४१४—जत्थ पुप्फाइ बीयाइं
विप्पइण्णाइं कोट्ठए।
अहुणोवलित्तं उल्लं
दट्ठूणं परिवज्जए॥ (५।१।२१)

४१५—नीयदुवारं तमसं
कोट्ठगं परिवज्जए।
अचक्खु-विसओ जत्थ
पाणा दुप्पडिलेहगा॥ (५।१।२०)

४१४—जहाँ कोष्ठक में या कोष्ठक-द्वार पर पुष्प, बीजादि बिखरे हों, वहाँ मुनि न जाय। कोष्ठक को तत्काल का लीपा और गीला देखे तो मुनि उसका परिवर्जन करे। (५।१।२१)

४१५—जहाँ चक्षु का विषय न होने के कारण प्राणी न देखे जा सकें, वैसे निम्न-द्वार वाले तमःपूर्ण कोष्ठक का परिवर्जन करे। (५।१।२०)

५० : समयग्ग

४१६--कालेण निक्खमे भिक्खू
कालेण य पडिक्कमे।
अकालं च विवज्जेत्ता
काले कालं समायरे ॥ (५।२।४)

४१७--अकाले चरसि भिक्खू
कालं न पडिलेहसि।
अप्पाणं च किलामेसि
सन्निवेसं च गरिहसि ॥ (५।२।५)

५० : समयज्ञता

४१६—भिक्षु समय पर भिक्षा के लिए निकले और समय पर लौट आए। अकाल को वर्जकर जो कार्य जिस समय का हो, उसे उसी समय करे। (५।२।४)

४१७—भिक्षो! तुम अकाल में जाते हो, काल की प्रतिलेखना नहीं करते। इसलिए तुम अपने आपको क्लान्त (खिन्न) करते हो और सन्निवेश (ग्राम) की निन्दा करते हो। (५।२।५)

•

५१ : समभाव

४१८—जे न वंदे न से कुप्पे
वंदिओ न समुक्कसे।
एवमन्नेसमाणस्स
सामण्णमणुचिट्ठई ॥ (५।२।३०)

४१९—बहुं पर-घरे अत्थि
विविहं खाइम-साइमं।
न तत्थ पंडिओ कुप्पे
इच्छा देज्ज परो न वा ॥ (५।२।२७)

४२०—सयणासण-वत्थं वा
भत्त-पाणं व संजए।
अदेंतस्स न कुप्पेज्जा
पच्चक्खे वि य दीसओ ॥ (५।२।२८)

५१ : समभाव

४१८—जो वन्दना न करे उस पर कोप न करे, वन्दना करने पर उत्कर्ष न लाए। इस प्रकार (समुदानचर्या का) अन्वेषण करने वाले मुनि का श्रामण्य निर्बाध भाव से टिकता है। (५।२।३०)

४१९—गृहस्थ के घर में नाना प्रकार का और प्रचुर खाद्य-स्वाद्य होता है, (किन्तु न देने पर) पण्डित-मुनि कोप न करे। (यों चिन्तन करे कि) इसकी अपनी इच्छा है, दे या न दे। (५।२।२७)

४२०—संयमी मुनि सामने दीख रहे, शयन, आसन, वस्त्र, भक्त या पान न देने वाले पर भी कोप न करे। (५।२।२८)

४२१—निद्दाणं रसनिज्जूढं
भद्दगं पावगं ति वा।
पुट्ठो वा वि अपुट्ठो वा
लाभालाभं न निद्दिसे ॥ (८।२२)

४२२—अतिंतिणे अचवले
अप्पभासी मियासणे।
हवेज्ज उयरे दंते
थोवं लद्धुं न खिंसए ॥ (८।२६)

४२३—खुहं पिवासं दुस्सेज्जं
सीउण्हं अरई भयं।
अहियासे अव्वहिओ
देहे दुक्खं महाफलं ॥ (८।२७)

४२४—कण्णसोक्खेहिं सद्देहिं
पेमं नाभिनिवेसए।
दारुणं कक्कसं फासं
काएण अहियासए ॥ (८।२६)

४२१—किसी के पूछने पर या बिना पूछे यह सरस है, यह नीरस है, यह अच्छा है या बुरा है—ऐसा न कहे और सरस या नीरस आहार मिला या न मिला—यह भी न कहे। (८।२२)

४२२—आहार न मिलने या अरस आहार मिलने पर आक्रोश न करे ; चपल न बने ; अल्पभाषी, मितभोजी और उदर का दमन करने वाला हो। थोड़ा आहार पाकर दाता की निन्दा न करे। (८।२६)

४२३—क्षुधा, प्यास, दुःशय्या (विषम भूमि पर सोना) शीत, उष्ण, अरति और भय को अव्यथित चित्त से सहन करे। क्योंकि देह में उत्पन्न कष्ट को सहन करना महाफल का हेतु होता है। (८।२७)

४२४—कानों के लिए सुखकर शब्दों में प्रेम न करे, दारुण और कर्कश स्पर्श को काया से सहन करे। (८।२६)

४२५—न बाहिरं परिभवे
अत्ताणं न समुक्कसे।
सुय-लाभे न मज्जेज्जा
जच्चा तवसिबुद्धिए ॥ (८।३०)

४२५—दूसरे का तिरस्कार न करे। आत्मोत्कर्ष न करे। श्रुत, लाभ, जाति, तपस्विता और बुद्धि का मद न करे। (८।३०)

५२ : कसाया

४२६—कोहं माणं च मायं च
लोभं च पाववड्ढणं।
वमे चत्तारि दोसे उ
इच्छंतो हियमप्पणो ॥ (८।३६)

४२७—कोहो य माणो य अणिग्गहीया
माया य लोभो य पवड्ढमाणा।
चत्तारि एए कसिणा कसाया
सिंचंति मूलाइं पुणब्भवस्स ॥ (८।३

५२ : कषाय

४२६—क्रोध, मान, माया और लोभ—ये पाप को बढ़ाने वाले हैं। आत्मा का हित चाहने वाला इन चारों दोषों को छोड़े। (८।३६)

४२७—वश में न किए हुए क्रोध और मान, बढ़ते हुए माया और लोभ—ये चारों संक्लिष्ट-कषाय पुनर्जन्मरूपी वृक्ष की जड़ों का सिंचन करते हैं। (८।३९)

५३ : कोह

४२८—आसुरत्तं न गच्छेज्जा
सोच्चाणं जिण-सासणं। (८।२५)

४२९—कोहो पीइं पणासेइ। (८।३७)

४३०—उवसमेण हणे कोहं। (८।३८)

५३ : क्रोध

४२८—वह जिन-शासन (तीर्थंकर की शिक्षा) को सुनकर क्रोध न करे। (८।२५)

४२९—क्रोध प्रीति का नाश करता है। (८।३७)

४३०—उपशम से क्रोध का हनन करे। (८।३८)

५४ : माण

४३१—माणो विणय-नासणो। (८।३७)

४३२—माणं मद्दवया जिणे। (८।३८)

५४ : मान

४३१—मान विनय का नाश करने वाला है। (८।३७)

४३२—मृदुता से मान को जीते। (८।३८)

५५ : माया

४३३—माया मित्ताणि नासेइ। (८।३७)

४३४—मायं चज्जवभावेण। (८।३८)

४३५—पूयणट्ठी जसो कामी
माण-सम्माण-कामए।
बहुं पसवई पावं
माया-सल्लं च कुव्वई॥ (५।२।३५)

५५ : माया

४३३—माया मित्रों का विनाश करती है। (८।३७)

४३४—ऋजुभाव से माया को जीते। (८।३८)

४३५—वह पूजा का अर्थी, यश का कामी और मान-सम्मान की कामना करने वाला मुनि बहुत पाप का अर्जन करता है और माया-शल्य का आचरण करता है। (५।२।३५)

५६ : मायि

४३६—सिया एगइओ लध्दुं
लोभेण विणिगूहई ।
मा मेयं दाइयं संतं
दट्ठूणं सयमायए ॥ (५।२।३१)

४३७—अत्तट्ठगुरुओ लुद्धो
बहुं पावं पकुव्वई ।
दुत्तोसओ य से होइ
निव्वाणं च न गच्छई ॥ (५।२।३२)

४३८—सिया एगइओ लद्धुं
विविहं पाण-भोयणं ।
भद्दगं भद्दगं भोच्चा
विवण्णं विरसमाहरे ॥ (५।२।३३)

५६ : मायावी

४३६—कदाचित् कोई एक मुनि सरस आहार पाकर उसे आचार्य आदि को दिखाने पर वह स्वयं ले न ले—इस लोभ से छिपा लेता है—(५।२।३१)

४३७—वह अपने स्वार्थ को प्रमुखता देने वाला और रस-लोलुप मुनि बहुत पाप करता है। वह जिस किसी वस्तु से संतुष्ट नहीं होता और निर्वाण को नहीं पाता। (५।२।३२)

४३८—कदाचित् कोई एक मुनि विविध प्रकार के पान और भोजन पाकर कहीं एकान्त में बैठ श्रेष्ठ-श्रेष्ठ खा लेता है, विवर्ण और विरस को स्थान पर लाता है। (५।२।३३)

४३९—जाणंतु ता इमे समणा
आययट्ठी अयं मुणी ।
संतुट्ठो सेवई पंतं
लूहवित्ती सुतोसओ ॥ (५।२।३४)

४४०—तव-तेणे वय-तेणे
रूव-तेणे य जे नरे ।
आयार-भाव-तेणे य
कुव्वइ देव-किब्बिसं ॥ (५।२।४६)

४४१—लद्धूण वि देवत्तं
उववन्नो देव-किब्बिसे ।
तत्था वि से न याणाइ
किं मे किच्चा इमं फलं ॥ (५।२।४७)

४४२—तत्तो वि से चइत्ताणं
लब्भिही एलमूययं ।
नरयं तिरिक्ख-जोणिं वा
बोही जत्थ सुदुल्लहा ॥ (५।२।४८)

४३९—ये श्रमण मुझे यों जानें कि यह मुनि बड़ा मोक्षार्थी है, संतुष्ट है, प्रान्त (असार) आहार का सेवन करता है, रूक्षवृत्ति और जिस किसी भी वस्तु से सन्तुष्ट होने वाला है। (५।२।३४)

४४०—जो मनुष्य तप का चोर, वाणी का चोर, रूप का चोर, आचार का चोर और भाव का चोर होता है, वह किल्बिषिक देव-योग्य-कर्म करता है। (५।२।४६)

४४१—किल्बिषिक—देव के रूप में उपपन्न जीव देवत्व को पाकर भी वहाँ वह नहीं जानता कि यह मेरे किस कार्य का फल है। (५।२।४७)

४४२—वहाँ से च्युत होकर वह मनुष्य-गति में आ एडमूकता (गूंगापन) अथवा नरक या तिर्यंचयोनि को पाएगा, जहाँ बोधि अत्यन्त दुर्लभ होती है। (५।२।४८)

४४३—एयं च दोसं दट्ठूणं
नायपुत्तेण भासियं ।
अणुमायं पि मेहावी
माया-मोसं विवज्जए ॥ (५।२।४९)

४४३—इस दोष को देखकर ज्ञातपुत्र ने कहा मेधावी मुनि अणुमात्र भी मायामृषा न करे। (५।२।४६)

५७ : लोह

४४४—लोहो सव्व-विणासणो ॥ (८।३७)

४४५—लोभं संतोसओ जिणे ॥ (८।३८)

५७ : लोभ

४४४—लोभ सब (प्रीति, विनय और मैत्री) का नाश करने वाला है। (८।३७)

४४५—संतोष से लोभ को जीते। (८।३८)

५८ : सुरा-पाण-णिसेह

४४६—सुरं वा मेरगं वा वि
अन्नं वा मज्जगं रसं ।
ससक्खं न पिबे भिक्खू
जसं सारक्खमप्पणो ॥ (५।२।३६)

४४७—पिया एगइओ तेणो
न मे कोइ वियाणई ।
तस्स पस्सह दोसाइं
नियडिं च सुणेह मे ॥ (५।२।३७)

४४८—वड्ढई सोंडिया तस्स
माया-मोसं च भिक्खुणो ।
अयसो य अनिव्वाणं
सययं च असाहुया ॥ (५।२।३८)

५८ : सुरा-पान का निषेध

४४६—अपने संयम का संरक्षण करता हुआ भिक्षु सुरा, मेरक या अन्य किसी प्रकार का मादक रस आत्म-साक्षी से न पीए। (५।२।३६)

४४७—जो मुनि—मुझे कोई नहीं जानता (यों सोचता हुआ) एकान्त में स्तेन-वृत्ति से मादक रस पीता है, उसके दोषों को देखो और मायाचरण को मुझ से सुनो। (५।२।३७)

४४८—उस भिक्षु के उन्मत्तता, माया-मृषा, अयश, अतृप्ति और सतत असाधुता—ये दोष बढ़ते हैं। (५।२।३८)

४४९—निच्चुव्विग्गो जहा तेणो
अत्तकम्मेहि दुम्मई।
तारिसो मरणंते वि
नाराहेइ संवरं ॥ (५।२।३९)

४५०—आयरिए नाराहेइ
समणे यावि तारिसो।
गिहत्था वि णं गरहंति
जेण जाणंति तारिसं॥ (५।२।४०)

४५१—एवं तु अगुणप्पेही
गुणाणं च विवज्जओ।
तारिसो मरणंते वि
नाराहेइ संवरं ॥ (५।२।४१)

४५२—तवं कुव्वइ मेहावी
पणीयं वज्जए रसं।
मज्ज-प्पमाय-विरओ
तवस्सी अइउक्कसो ॥ (५।२।४२)

४४९—वह दुर्मत अपने दुष्कर्मों से चोर की भाँति सदा उद्विग्न रहता है। वैसा मुनि मरणान्त-काल में भी संवर की आराधना नहीं कर पाता। (५।२।३९)

४५०—वह न तो आचार्य की आराधना कर पाता है और न श्रमणों की भी। गृहस्थ भी उसे मायाचारी मानते हैं, इसलिए उसकी गर्हा करते हैं। (५।२।४०)

४५१—इस प्रकार अगुणों की प्रेक्षा (आसेवना) करने वाला और गुणों को वर्जने वाला मुनि मरणान्त-काल में भी संवर की आराधना नहीं कर पाता। (५।२।४१)

४५२—जो मेधावी तपस्वी तप करता है, प्रणीत-रस को वर्जता है, मद्य-प्रमाद से विरत होता है, गर्व नहीं करता—(५।२।४२)

४५३—तस्स पस्सह कल्लाणं
अणेग - साहु - पूइयं ।
विउलं अत्थ-संजुत्तं
कित्तइस्सं सुणेह मे ॥ (५।२।४३)

४५४—एवं तु गुणप्पेही
अगुणाणं च विवज्जओ ।
तारिसो मरणंते वि
आराहेइ संवरं ॥ (५।२।४४)

४५५—आयरिए आराहेइ
समणे यावि तारिसो ।
गिहत्था वि णं पूयंति
जेण जाणंति तारिसं ॥ (५।२।४५)

४५३—उसके अनेक साधुओं द्वारा प्रशंसित, विपुल और अर्थ-संयुक्त कल्याण को स्वयं देखो और मैं उसकी कीर्तना करूंगा। (५।२।४३)

४५४—इस प्रकार गुण की प्रेक्षा (आसेवना) करने वाला और अगुणों को वर्जने वाला, शुद्ध-भोजी मुनि मरणान्त-काल में भी संवर की आराधना करता है। (५।२।४४)

४५५—वह आचार्य की आराधना करता है और श्रमणों की भी। गृहस्थ भी उसे शुद्ध-भोजी मानते हैं, इसलिए उसकी पूजा करते हैं। (५।२।४५)

५६ : विआस

४५६—जया जीवे अजीवे य
दो वि एए वियाणई।
तया गइं बहुविहं
सव्व-जीवाण जाणई॥ (४।१४)

४५७—जया गइं बहुविहं
सव्व-जीवाण जाणई।
तया पुण्णं च पावं च
बंधं मोक्खं च जाणई॥ (४।१५)

४५८—जया पुण्णं च पावं च
बंधं मोक्खं च जाणई।
तया निव्विदए भोए
जे दिव्वे जे य माणुसे॥ (४।१६)

५६ : क्रमिक-विकास

४५६—जब मनुष्य जीव और अजीव—इन दोनों को जान लेता है तब वह सब जीवों की बहुविध गतियों को भी जान लेता है। (४।१४)

४५७—जब मनुष्य सब जीवों की बहुविध गतियों को जान लेता है, तब वह पुण्य, पाप, बन्ध और मोक्ष को भी जान लेता है। (४।१५)

४५८—जब मनुष्य पुण्य, पाप, बन्ध और मोक्ष को जान लेता है तब वह दैविक और मानुषिक भोगों से विरक्त हो जाता है। (४।१६)

४५६—जया निव्विंदए भोए
जे दिव्वे जे य माणुसे।
तया चयइ संजोगं
सब्भिंतर - बाहिरं ॥ (४।१७)

४६०—जया चयइ संजोगं
सब्भिंतर - बाहिरं।
तया मुंडे भवित्ताणं
पव्वइए अणगारियं ॥ (४।१८)

४६१—जया मुंडे भवित्ताणं
पव्वइए अणगारियं।
तया संवरमुक्किट्ठं
धम्मं फासे अणुत्तरं ॥ (४।१९)

४६२—जया संवरमुक्किट्ठं
धम्मं फासे अणुत्तरं।
तया धुणइ कम्मरयं
अबोहि - कलुसं कडं ॥ (४।२०)

४५६—जब मनुष्य दैविक और मानुषिक भोगों से विरक्त हो जाता है तब वह आभ्यन्तर और बाह्य संयोग को त्याग देता है। (४।१७)

४६०—जब मनुष्य आभ्यन्तर और बाह्य संयोग को त्याग देता है तब वह मुण्ड होकर अनगार-वृत्ति को स्वीकार करता है। (४।१८)

४६१—जब मनुष्य मुंड होकर अनगार-वृत्ति को स्वीकार करता है तब वह उत्कृष्ट संवरात्मक अनुत्तर-धर्म का स्पर्श करता है। (४।१६)

४६२—जब मनुष्य उत्कृष्ट संवरात्मक अनुत्तर-धर्म का स्पर्श करता है तब वह अबोधि-रूप पाप द्वारा संचित कर्म-रज को प्रकम्पित कर देता है। (४।२०)

४६३—जया धुणइ कम्मरयं
अबोहि - कलुसं कडं ।
तया सव्वत्तगं नाणं
दंसणं चाभिगच्छई ॥ (४।२१)

४६४—जया सव्वत्तगं नाणं
दंसणं चाभिगच्छई ।
तया लोगमलोगं च
जिणो जाणइ केवली ॥ (४।२२)

४६५—जया लोगमलोगं च
जिणो जाणइ केवली ।
तया जोगे निरुंभित्ता
सेलेसिं पडिवज्जई ॥ (४।२३)

४६६—जया जोगे निरुंभित्ता
सेलेसिं पडिवज्जई ।
तया कम्मं खवित्ताणं
सिद्धिं गच्छइ नीरओ ॥ (४।२४)

४६३—जब वह अबोधि-रूप पाप द्वारा संचित कर्म-रज को प्रकम्पित कर देता है तब वह सर्वत्र-गामी ज्ञान और दर्शन—केवलज्ञान और केवलदर्शन को प्राप्त कर लेता है। (४।२१)

४६४—जब वह सर्वत्र-गामी ज्ञान और दर्शन—केवलज्ञान और केवलदर्शन को प्राप्त कर लेता है तब वह जिन और केवली होकर लोक-अलोक को जान लेता है। (४।२२)

४६५—जब वह जिन और केवली होकर लोक-अलोक को जान लेता है तब वह योगों का निरोध कर शैलेशी अवस्था को प्राप्त होता है। (४।२३)

४६६—जब वह योग का निरोध कर शैलेशी अवस्था को प्राप्त होता है तब वह कर्मों का क्षय कर रज-मुक्त बन सिद्धि को प्राप्त करता है। (४।२४)

४६७—जया कम्मं खवित्ताणं
सिद्धिं गच्छइ नीरओ ।
तया लोग मत्थयत्थो
सिद्धो हवइ सासओ ॥ (४।२५)

४६७—जब वह कर्मों का क्षय कर रज-मुक्त बन सिद्धि को प्राप्त होता है तब वह लोक के मस्तक पर स्थित शाश्वत सिद्ध होता है। (४।२५)

६० : को भिक्खू ?

४६८—निक्खम्ममाणाए बुद्ध-वयणे
निच्चंचित्त-समाहिओ हवेज्जा ।
हत्थीण वसं न यावि गच्छे
वंतं नो पडियायई जे स भिक्खू ॥ (१०।१)

४६९—पुढविं न खणे न खणावए
सीओदगं न पिए न पियावए ।
अगणि-सत्थं जहा सुनिसियं
तं जले न जलावए जे स भिक्खू ॥ (१०।२)

४७०—अनिलेण न वीए न वीयावए
हरियाणि न छिंदे न छिंदावए ।
बीयाणि सया विवज्जयंतो
सच्चित्तं नाहारए जे स भिक्खू ॥ (१०।३)

६०—भिक्षु कौन ?

४६८—जो तीर्थंकर के उपदेश से निष्क्रमण कर निर्ग्रन्थ-प्रवचन में सदा समाहित-चित्त होता है, जो स्त्रियों के अधीन नहीं होता, जो वान्त भोगों का पुनः पान (सेवन) नहीं करता, वह भिक्षु है। (१०।१)

४६९—जो पृथ्वी का खनन न करता है और न कराता है, जो शीतोदक न पीता है और न पिलाता है, शस्त्र की धारा के समान सुतीक्ष्ण अग्नि को न जलाता है और न जलवाता है, वह भिक्षु है। (१०।२)

४७०—जो पंखे आदि से हवा न करता है और न कराता है, जो हरित का छेदन न करता है और न कराता है, जो बीजों का सदा विवर्जन करता है (उनके संस्पर्श से दूर रहता है), जो सचित्त का आहार नहीं करता, वह भिक्षु है। (१०।३)

४७१—वहणं तस - थावराण होइ
पुढवि-तण-कट्ठं - निस्सियाणं ।
तम्हा उद्देसियं न भुंजे
नो वि पए न पयावए जे स भिक्खू ॥ (१०।४)

४७२—रोइय नायपुत्त - वयणे
अत्तसमे मन्नेज्ज छप्पि काए ।
पंच य फासे महव्वयाइं
पंचासव-संवरे जे स भिक्खू ॥ (१०।५)

४७३—चत्तारि वमे सया कसाए
धुवयोगी य हवेज्ज बुद्ध-वयणे ।
अहणे निज्जायरूव-रयए
गिहिजोगं परिवज्जए जे स भिक्खू॥(१०।६)

४७४—सम्मद्दिट्ठी सया अमूढे
अत्थि हु नाणे तवे संजमे य ।
तवसा धुणइ पुराण-पावगं
मण-वय-काय-सुसंवुडे जे स भिक्खू॥(१०।७)

४७१—भोजन बनाने में पृथ्वी, तृण, और काष्ट के आश्रय में रहे हुए त्रस-स्थावर जीवों का वध होता है, अतः औद्देशिक (अपने निमित्त बना हुआ) नहीं खाता तथा स्वयं न पकाता है और न दूसरों से पकवाता है, वह भिक्षु है। (१०१४)

४७२—जो ज्ञातपुत्र के वचन में श्रद्धा रखकर छहों कायों (सभी जीवों) को आत्म-सम मानता है, जो पाँच महाव्रतों का पालन करता है, जो पाँच आस्रवों का संवरण करता है, वह भिक्षु है। (१०१५)

४७३—जो चार कषाय (क्रोध, मान, माया और लोभ) का परित्याग करता है, जो निर्ग्रन्थ प्रवचन में ध्रुव-योगी है, जो अधन है, जो स्वर्ण और चांदी से रहित है, जो गृहियोग (क्रय-विक्रय आदि) का वर्जन करता है, वह भिक्षु है। (१०१६)

४७४—जो सम्यक्-दर्शी है, जो सदा अमूढ़ है, जो ज्ञान, तप और संयम के अस्तित्व में आस्थावान् है, जो तप के द्वारा पुराने पापों को प्रकम्पित कर देता है, जो मन, *वचन तथा काय से सुसंवृत्त है, वह भिक्षु है। (१०१७)*

४७५—तहेव असणं पाणगं वा
विविहं खाइम-साइमं लभित्ता।
होही अट्ठो सुए परे वा
तं न निहे न निहावए जे स भिक्खू॥(१०।८)

४७६—तहेव असणं पाणगं वा
विविहं खाइम-साइमं लभित्ता।
छंदिय साहम्मियाण भुंजे
भोच्चा सज्झायरए य जे स भिक्खू॥(१०।६)

४७७—न य वुग्गहियं कहं कहेज्जा
न य कुप्पे निहुइंदिए पसंते।
संजम - धुवजोग - जुत्ते
उवसंते अविहेडए जे स भिक्खू॥(१०।१०)

४७८—जो सहइ हु गामकंटए
अक्कोस - पहार - तज्जणाओ य।
भय - भेरव - सद्द - संपहासे
सम-सुह-दुक्ख-सहे य जे स भिक्खू॥(१०।११)

४७५—पूर्वोक्त विधि से विविध अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य को प्राप्त कर—यह कल या परसों काम आएगा—इस विचार से जो न सन्निधि (संचय) करता है और न कराता है, वह भिक्षु है। (१०।८)

४७६—पूर्वोक्त प्रकार से विविध अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य को प्राप्त कर जो अपने साधर्मिकों को निमंत्रित कर भोजन करता है, जो भोजन कर चुकने पर स्वाध्याय में रत रहता है, वह भिक्षु है। (१०।९)

४७७—जो कलहकारी कथा नहीं करता, जो कोप नहीं करता, जिसकी इन्द्रियाँ अनुद्धत हैं, जो प्रशान्त है, जो संयम में ध्रुव-योगी है, जो उपशान्त है, जो दूसरों को तिरस्कृत नहीं करता, वह भिक्षु है। (१०।१०)

४७८—जो काँटे के समान चुभने वाले इन्द्रिय-विषयों, आक्रोश-वचनों, प्रहारों, तर्जनाओं और वेताल आदि के अत्यन्त भयानक शब्द-युक्त अट्टहासों को सहन करता है तथा सुख और दुःख को समभाव पूर्वक सहन करता है, वह भिक्षु है। (१०।११)

४७९—पडिमं पडिवज्जिया मसाणे
नो भायए भय-भेरवाइं दिस्स ।
विविह-गुण-तवो-रए य निच्चं
न सरीरं चाभिकंखई जे स भिक्खू ।।(१०।१२)

४८०—असइं वोसट्ठ - चत्त - देहे
अक्कुट्ठे व हए व लूसिए वा ।
पुढवि समे मुणी हवेज्जा
अनियाणे अकोउहल्ले य जे स भिक्खू ।।
(१०।१३)

४८१—अभिभूय काएण परीसहाइं
समुद्धरे जाइपहाओ अप्पयं ।
विइ त्तु जाई - मरणं महब्भयं
तवे रए सामणिए जे स भिक्खू ।। (१०।१४)

४७९—जो श्मशान में प्रतिमा को ग्रहण कर अत्यन्त भयजनक दृश्यों को देखकर नहीं डरता, जो विविध गुणों और तपों में रत होता है, जो शरीर की आकांक्षा नहीं करता, वह भिक्षु है। (१०।१२)

४८०—जो मुनि बार-बार देह का व्युत्सर्ग और त्याग करता है, जो आक्रोश देने, पीटने और काटने पर पृथ्वी के समान सर्वसह होता है, जो निदान नहीं करता, जो नाटक आदि देखने की इच्छा नहीं करता, वह भिक्षु है। (१०।१३)

४८१—जो शरीर से परीषहों को जीतकर (सहनकर) जाति-पथ (संसार) से अपना उद्धार कर लेता है, जो जन्म-मरण को महाभय जानकर श्रमण-सम्बन्धी तप में रत रहता है, वह भिक्षु है। (१०।१४)

४८२—हत्थ-संजए पाय-संजए
वाय-संजए संजइंदिए ।
अज्झप्परए सुसमाहियप्पा
सुत्तत्थं च वियाणई जे स भिक्खू ॥
(१०।१५)

४८३—उवहिम्मि अमुच्छिए अगिद्धे
अन्नाय-उंछं पुलनिप्पुलाए ।
कय - विक्कय - सन्निहिओ विरए
सव्व-संगावगए य जे स भिक्खू ॥
(१०।१६)

४८४—अलोल भिक्खू न रसेसु गिद्धे
उंछं चरे जीविय नाभिकंखे ।
इड्ढिं च सक्कारण पूयणं च
चए ठियप्पा अणिहे जे स भिक्खू ॥
(१०।१७)

४८२—जो हाथों से संयत है, पैरों से संयत है, वाणी से संयत है, इंद्रियों से संयत है, जो अध्यात्म में रत है, जो भलीभांति समाधिस्थ है, जो सूत्र और अर्थ को यथार्थ रूप से जानता है, वह भिक्षु है। (१०।१५)

४८३—जो मुनि वस्त्रादि उपधि में मूर्छित नहीं है, जो अगृद्ध है, जो अज्ञात कुलों से भिक्षा की एषणा करने वाला है, जो संयम को असार करने वाले दोषों से रहित है, जो क्रय-विक्रय और सन्निधि से विरत है, जो सब प्रकार के संगों से रहित है, वह भिक्षु है। (१०।१६)

४८४—जो अलोलुप है, रसों में गृद्ध नहीं है, जो उंछचारी है, जो असंयम जीवन की आकांक्षा नहीं करता, जो ऋद्धि, सत्कार और पूजा की स्पृहा को त्यागता है, जो स्थितात्मा है, जो माया रहित है, वह भिक्षु है। (१०।१७)

४८५—न परं वएज्जासि अयं कुसीले
जेणऽन्नो कुप्पेज्ज न तं वएज्जा।
जाणिय पत्तेयं पुण्ण - पावं
अत्ताणं न समुक्कसे जे स भिक्खू॥
(१०।१८)

४८६—न जाइ-मत्ते न य रूव-मत्ते
न लाभ-मत्ते न सुएण-मत्ते।
मयाणि सव्वाणि विवज्जइत्ता
धम्म-ज्झाण-रए जे स भिक्खू॥ (१०।१९)

४८७—पवेयए अज्ज-पयं महामुणी
धम्मे ठिओ ठावयई परं पि।
निक्खम्म वज्जेज्ज कुसील-लिंगं
न यावि हस्सकुहए जे स भिक्खू॥ (१०।२०)

४८५—प्रत्येक व्यक्ति के पुण्य-पाप पृथक्-पृथक् होते हैं, ऐसा जानकर जो दूसरे को 'यह कुशील है'—ऐसा नहीं कहता, जिससे दूसरा कुपित हो, ऐसी बात नहीं कहता, जो अपनी विशेषता पर उत्कर्ष नहीं लाता, वह भिक्षु है। (१०।१८)

४८६—जो जाति का मद नहीं करता, जो रूप का मद नहीं करता, जो लाभ का मद नहीं करता, जो श्रुत का मद नहीं करता, जो सब मदों को वर्जता हुआ धर्म-ध्यान में रत रहता है, वह भिक्षु है। (१०।१९)

४८७—जो महामुनि आर्य-पद (धर्म-पद) का उपदेश करता है, जो स्वयं धर्म में स्थित होकर दूसरे को भी धर्म में स्थित करता है, जो प्रव्रजित हो कुशील-लिंग का वर्जन करता है, जो दूसरों को हँसाने के लिए कुतूहलपूर्ण चेष्टा नहीं करता, वह भिक्षु है। (१०।२०)

४८८—तं देहवासं असुइं असासयं
सया चए निच्च हियट्ठियप्पा ।
छिंदित्तु जाई-मरणस्स बंधणं
उवेइ भिक्खू अपुणागमं गइं ॥ (१०।२१

४८८—अपनी आत्मा को सदा शाश्वत हित में सुस्थित रखने वाला भिक्षु इस अशुचि और अशाश्वत देहवास को सदा के लिए त्याग देता है और वह जन्म-मरण के बन्धन को छेदकर अपुनरागमन-गति (मोक्ष) को प्राप्त होता है। (१०।२१)

६१ : संजम-समाही-सुत्त

४८९—इह खलु भो! पव्वइएणं, उप्पन्न-दुक्खेणं; संजमे अरइ-समावन्न-चित्तेणं ओहाणुप्पेहिणा अणोहाइएणं चेव, हयरस्सि - गयंकुस-पोयपडागाभूयाइं इमाइं अट्ठारस ठाणाइं सम्मं संपडिलेहियव्वाइं भवंति। तंजहा—

१—हं भो! दुस्समाए दुप्पजीवी।

२—लहुस्सगा इत्तरिया गिहीणं कामभोगा।

३—भुज्जो य साइ-बहुला मणुस्सा।

६१ : संयम-समाधि के सूत्र

४८६—मुमुक्षुओ ! निर्ग्रन्थ-प्रवचन में जो प्रव्रजित है किन्तु उसे मोहवश दुःख उत्पन्न हो गया है, संयम में उसका चित्त अरति-युक्त हो गया, वह संयम को छोड़ गृहस्थाश्रम में चला जाना चाहता है, उसे संयम छोड़ने से पूर्व इन अठारह स्थानों का भलीभाँति आलोचन करना चाहिए। अस्थितात्मा के लिए इनका वही स्थान है जो अश्व के लिए लगाम, हाथी के लिए अंकुश और पोत के लिए पतवार का है। अठारह स्थान इस प्रकार हैं :—

१—ओह ! इस दुष्षमा (दुःख बहुल पाँचवें अर) में लोग बड़ी कठिनाई से जीविका चलाते हैं।

२—गृहस्थों के काम-भोग स्वल्प-सार वाले और अल्प-कालिक है।

३—मनुष्य प्रायः बहुत मायावी होते हैं।

४—इमे य मे दुक्खेन चिरकालो
वट्ठाई भविस्सइ।

५—ओमजण-पुरक्कारे ।

६—वंतस्स य पडियाइयणं।

७—अहरगइवासोवसंपया ।

८—दुल्लभे खलु भो! गिहीणं धम्मे
गिहिवासमज्झे वसंताणं।

९—आयंके से वहाय होइ।

१०—संकप्पे से वहाय होइ।

११—सोवक्केसे गिहवासे।
निरुवक्केसे परियाए।

१२—बंधे गिहवासे।
मोक्खे परियाए।

४—यह मेरा परीषह-जनित दुःख चिरकाल स्थायी नहीं होगा।

५—गृहवास में नीच जनों का पुरस्कार-सत्कार करना होता है।

६—संयम को छोड़ घर में जाने का अर्थ है, वमन को वापस पीना।

७—संयम को छोड़ गृहवास में जाने का अर्थ है, नारकीय-जीवन का अंगीकार।

८—ओह ! गृहवास में रहते हुए गृहियों के लिए धर्म का स्पर्श निश्चय ही दुर्लभ है।

९—वहाँ आतंक (शीघ्रघाती शारीरिक रोग) वध के लिए होता है।

१०—वहाँ संकल्प (मानसिक रोग) वध के लिए होता है।

११—गृहवास क्लेश-सहित है और मुनि-पर्याय क्लेश-रहित।

१२—गृहवास बन्धन है और मुनि-पर्याय मोक्ष।

१३—सावज्जे गिहवासे।
अणवज्जे परियाए।

१४—बहुसाहारणा गिहीणं कामभोगा।

१५—पत्तेयं पुण्णपावं।

१६—अणिच्चे खलु भो! मणुयाण
जीविए कुसग्ग-जलबिंदु-चंचले।

१७—बहुं च खलु पावं कम्मं पगडं।

१८—पावाणं च खलु भो! कडाणं
कम्माणं पुव्विं दुच्चिण्णाणं
दुप्पडिक्कंताणं वेयइत्ता मोक्खो,
नत्थि अवेयइत्ता, तवसा वा
झोसइत्ता। अट्ठारसमं पयं
भवइ। (चू० १।सू० १)

४६०—जया य चयई धम्मं
अणज्जो भोगकारणा।
से तत्थ मुच्छिए बाले
आयइं नावबुज्झइ॥ (चू० १।१)

१३—गृहवास सावद्य है और मुनि-पर्याय अनवद्य।

१४—गृहस्थों के काम-भोग बहुजन सामान्य हैं—सर्व-सुलभ हैं।

१५—पुण्य और पाप अपना-अपना होता है।

१६—ओह! मनुष्यों का जीवन अनित्य है, कुश के अग्र भाग पर स्थित जल-बिन्दु के समान चंचल है।

१७—ओह! मैंने इससे पूर्व बहुत ही पाप-कर्म किए हैं।

१८—ओह! दुश्चरित्र और दुष्ट-पराक्रम के द्वारा पूर्व-काल में अर्जित किए हुए पाप कर्मों को भोग लेने पर ही मोक्ष होता है। उन्हें भोगे बिना अथवा तप के द्वारा उनका क्षय किए बिना मोक्ष नहीं होता। यह अठारहवाँ पद है। (चू० १।सू०१)

१०—अनार्य साधु जब भोग के लिए धर्म को छोड़ता है तब वह भोग में मूर्च्छित अज्ञानी अपने भविष्य को नहीं समझता। (चू०१।१)

४६१—जया ओहाविओ होइ
इंदो वा पडिओ छमं ।
सव्वधम्म परिब्भट्ठो
स पच्छा परितप्पइ ॥ (चू० १।२)

४६२—जया य वंदिमो होइ
पच्छा होइ अवंदिमो ।
देवया व चुया ठाणा
स पच्छा परितप्पइ ॥ (चू० १।३)

४६३—जया य पूइमो होइ
पच्छा होइ अपूइमो ।
राया व रज्जपब्भट्ठो
स पच्छा परितप्पइ ॥ (चू० १।४)

४६४—जया य माणिमो होइ
पच्छा होइ अमाणिमो ।
सेट्ठि व्व कब्बडे छूढो
स पच्छा परितप्पइ ॥ (चू० १।५)

४६१—जब कोई साधु उत्प्रव्रजित होता है—गृहवास में प्रवेश करता है—तब वह सब धर्मों से भ्रष्ट होकर वैसे ही परिताप करता है जैसे देवलोक के वैभव से च्युत होकर भूमितल पर गिरा हुआ इन्द्र। (चू० १।२)

४६२—प्रव्रजित काल में साधु वंदनीय होता है, वही जब उत्प्रव्रजित होकर अवन्दनीय हो जाता है, तब वह वैसे ही परिताप करता है जैसे अपने स्थान से च्युत देवता। (चू० १।३)

४६३—प्रव्रजित काल में साधु पूज्य होता है, वही जब उत्प्रव्रजित होकर अपूज्य हो जाता है, तब वह वैसे ही परिताप करता है जैसे राज्य-भ्रष्ट राजा। (चू० १।४)

४६४—प्रव्रजित-काल में साधु मान्य होता है, वही जब उत्प्रव्रजित होकर अमान्य हो जाता है, तब वह वैसे ही परिताप करता है जैसे कर्बट (छोटे से गाँव) में अवरुद्ध किया हुआ श्रेष्ठी। (चू० १।५)

४६५—जया य थेरओ होइ
समइक्कंतजोव्वणो ।
मच्छो व्व गलं गिलित्ता
स पच्छा परितप्पइ ॥ (चू० १।६)

४६६—जया य कुकुडंबस्स
कुतत्तीहिं विहम्मइ ।
हत्थी व बंधणे बद्धो
स पच्छा परितप्पइ ॥ (चू० १।७)

४६७—पुत्तदारपरिकिण्णो
मोहसंताणसंतओ ।
पंकोसन्नो जहा नागो
स पच्छा परितप्पइ ॥ (चू० १।८)

४६८—अज्ज आहं गणी हुंतो
भावियप्पा बहुस्सुओ ।
जइ हं रमंतो परियाए
सामण्णे जिणदेसिए ॥ (चू० १।६)

४६५—यौवन के बीत जाने पर जब वह उत्प्रव्रजित साधु बूढ़ा होता है, तब वह वैसे ही परिताप करता है जैसे काँटे को निगलने वाला मत्स्य। (चू० १।६)

४६६—वह उत्प्रव्रजित साधु जब कुटुम्ब की दुश्चिन्ताओं से प्रतिहत होता है तब वह वैसे ही परिताप करता है है जैसे बन्धन में बंधा हुआ हाथी। (चू० १।७)

४६७—पुत्र और स्त्री से घिरा हुआ और मोह की परम्परा से परिव्याप्त वह वैसे ही परिताप करता है जैसे पंक में फँसा हुआ हाथी। (चू० १।८)

४६८—आज मैं भावितात्मा और बहुश्रुत गणी होता यदि जिनोपदिष्ट श्रमण-पर्याय (चारित्र) में रमण करता। (चू० १।६)

४९९—देवलोगसमाणो उ
परियाओ महेसिणं।
रयाणं अरयाणं तु
महानिरय सारिसो ॥ (चू० १।१०)

५००—अमरोवमं जाणिय सोक्खमुत्तमं
रयाण परियाए तहारयाणं।
निरओवमं जाणिय दुक्खमुत्तमं
रमेज्ज तम्हा परियाय पंडिए ॥ (चू० १।११)

५०१—धम्माउ भट्ठं सिरिओ ववेयं
जन्नग्गि विज्झायमिव प्पतेयं।
हीलंति णं दुव्विहियं कुसीला
दाढुद्धियं घोरविसं व नागं ॥ (चू० १।१२)

५०२—इहेवधम्मो अयसो अकित्ती
दुन्नामधेज्जं च पिहुज्जणम्मि।
चुयस्स धम्माउ अहम्मसेविणो
संभिन्नवित्तस्स य हेट्ठओ गई ॥ (चू० १।१३)

४९९—संयम में रत महर्षियों के लिए मुनि-पर्याय देवलोक के समान ही सुखद होता है और जो संयम में रत नहीं होते उनके लिए वही (मुनि-पर्याय) महानरक के समान दुःखद होता है। (चू० १।१०)

५००—संयम में रत साधुओं का सुख देवों के समान उत्तम (उत्कृष्ट) जानकर तथा संयम में रत न रहने वाले मुनियों का दुःख नरक के समान उत्तम (उत्कृष्ट) जानकर पण्डित मुनि संयम में ही रमण करे। (चू० १।११)

५०१—जिसकी दाढें उखाड़ ली गई हों, उस घोर विषधर सर्प की साधारण लोग भी अवहेलना करते हैं। वैसे ही धर्म-भ्रष्ट, चारित्ररूपी श्री से रहित, बुझी हुई यज्ञाग्नि की भाँति निस्तेज और दुर्विहित साधु की कुशील लोग भी निन्दा करते हैं। (चू० १।२)

५०२—धर्म से च्युत, अधर्मसेवी और चारित्र का खण्डन करने वाला साधु इसी जीवन में अधर्मी होता है, उसके अयश और अकीर्ति होती है। साधारण लोगोंमें भी उसका दुर्नाम होता है तथा उसकी अधोगति होती है। (चू० १।१३)

५०३—भुंजित्तु भोगाइ पसज्झ चेयसा
तहाविहं कट्टु असंजमं बहुं ।
गइं च गच्छे अणभिज्झियं दुहं
बोही य से नो सुलभा पुणो-पुणो ।।(चू० १।१४)

५०४—इमस्स ता नेरइयस्स जंतुणो
दुहोवणीयस्स किलेसवत्तिणो ।
पलिओवमं झिज्जइ सागरोवमं
किमंग पुण मज्झ इमं मणो-दुहं ।। (चू० १।१५)

५०५—न मे चिरं दुक्खमिणं भविस्सई
असासया भोग-पिवास जंतुणो ।
न चे सरीरेण इमेणवेस्सई
अविस्सई जीवियपज्जवेण मे ।।(चू० १।१६)

५०६—जस्सेवमप्पा उ हवेज्ज निच्छिओ
चएज्ज देहं न उ धम्म-सासणं ।
तं तारिसं नो पयलेंति इंदिया
उवेंतवाया व सुदंसणं गिरिं ।।(चू० १।१७)

५०३—वह संयम से भ्रष्ट साध आवेग-पूर्ण चित्त से भोगों का भोग कर और तथाविध प्रचुर असंयम का आसेवन कर अनिष्ट एवं दुःखपूर्ण गति में जाता है और बार-बार जन्म-मरण करने पर भी उसे बोधि सुलभ नहीं होती। (चू० १।१४)

५०४—दुःख से युक्त और क्लेशमय जीवन बिताने वाले इन नारकीय जीवों की पल्योपम और सागरोपम आयु भी समाप्त हो जाती है तो फिर यह मेरा मनोदुःख कितने काल का है? (चू० १।१५)

५०५—यह मेरा दुःख चिरकाल तक नहीं रहेगा। जीवों की भोग-पिपासा अशाश्वत है। यदि वह इस शरीर के होते हुए न मिटी तो मेरे जीवन की समाप्ति के समय तो अवश्य ही मिट जाएगी। (चू० १।१६)

५०६—जिसकी आत्मा इस प्रकार निश्चित होती है (दृढ़ संकल्पयुक्त होती है)—'देह को त्याग देना चाहिए पर धर्म-शासन को नहीं छोड़ना चाहिए'—उस दृढ़-प्रतिज्ञ साध को इन्द्रियाँ उसी प्रकार विचलित नहीं कर सकतीं जिस प्रकार वेगपूर्ण गति से आता हुआ महावायु सुदर्शन गिरी को। (चू० १।१७)

५०७—इच्चेव संपस्सिय बुद्धिमं नरो
आयं उवायं विविहं वियाणिया।
काएण वाया अदु माणसेणं
तिगुत्तिगुत्तो जिण-वयणमहिट्ठिजासि ॥
(च० १।१८)

५०७—बुद्धिमान मनुष्य इस प्रकार सम्यक् आलोचना कर तथा विविध प्रकार के लाभ और उनके साधनों को जान कर त्रिगुप्तियों से गुप्त हो कर जिन-वाणी का आश्रय ले। (च० १।१८)

६२ : पुज्जो को ?

५०८—आयरियं अग्गिमिवाहियग्गी
सुस्सूसमाणो पडिजागरेज्जा ।
आलोइयं इंगियमेव नच्चा
जो छन्दमाराहयइ स पुज्जो ॥ (६।३।१)

५०९—आयारमट्ठा विणयं पउंजे
सुस्सूसमाणो परिगिज्झ वक्कं ।
जहोवइट्ठं अभिकंखमाणो
गुरुं तु नासाययई स पुज्जो ॥ (६।३।२)

५१०—राइणिएसु विणयं पउंजे
डहरा वि य जे परियायजेट्ठा ।
नियत्तणे वट्टइ सच्चवाई
ओवायवं वक्ककरे स पुज्जो ॥ (६।३।३)

६२ : पूज्य कौन ?

५०८—जैसे अग्निहोत्री अग्नि की शुश्रूषा करता हुआ जागरूक रहता है, वैसे ही जो आचार्य की शुश्रूषा करता हुआ जागरूक रहता है, जो आचार्य के आलोकित और इंगित को जानकर उसके अभिप्राय की आराधना करता है, वह पूज्य है। (९।३।१)

५०९—जो आचार के लिए विनय का प्रयोग करता है, जो आचार्य को सुनने की इच्छा रखता हुआ, उसके वाक्य को ग्रहण कर उपदेश के अनुकूल आचरण करता है, जो गुरु की आशातना नहीं करता, वह पूज्य है। (९।३।२)

५१०—जो अल्पवयस्क होने पर भी दीक्षा-काल में ज्येष्ठ हैं—उन पूजनीय साधुओं के प्रति जो विनय का प्रयोग करता है, जो नम्र व्यवहार करता है, जो सत्यवादी है, जो गुरु के समीप रहने वाला है और जो गुरु की आज्ञा का पालन करता है, वह पूज्य है। (९।३।३)

५११—अन्नाय-उंछं चरई विसुद्धं
जवणट्ठया समुयाणं च निच्चं ।
अलद्धुयं नो परिदेवएज्जा
लद्धुं न विकत्थयई स पुज्जो ॥ (९।३।४)

५१२—संथार-सेज्जासण-भत्त-पाणे
अप्पिच्छया अइलाभे वि संते ।
जो एवमप्पाणभितोसएज्जा
संतोस-पाहन्न-रए स पुज्जो ॥ (९।३।५)

५१३—सक्का सहेउं आसाए कंटया
अओमया उच्छहया नरेणं ।
अणासए जो उ सहेज्ज कंटए
वईमए कण्णसरे स पुज्जो ॥ (९।३।६)

५१४—मुहुत्त-दुक्खाहु हवंति कंटया
अओमया ते वि तओ सुउद्धरा ।
वायादुरुत्ताणि दुरुद्धराणि
वेराणुबंधीणि महब्भयाणि ॥ (९।३।७)

५११—जो जीवन-यापन के लिए अपना परिचय न देते हुए विशुद्ध सामुदायिक उंछ (भिक्षा) की सदा चर्या करता है, जो भिक्षा न मिलने पर विलखा नहीं होता, मिलने पर श्लाघा नहीं करता, वह पूज्य है। (६।३।४)

५१२—संस्तारक, शय्या, आसन, भक्त और पानी का अधिक लाभ होने पर भी जिसकी इच्छा अल्प होती है, जो आवश्यकता से अधिक नहीं लेता, जो इस प्रकार जिस किसी भी वस्तु से अपने आप को सन्तुष्ट कर लेता है, जो सन्तोष-प्रधान जीवन में रत है, वह पूज्य है। (६।३।५)

५१३—पुरुष धन आदि की आशा से लोहमय काँटों को सहन कर लेता है परन्तु जो किसी प्रकार की आशा रखे बिना कानों में पैठते हुए वचनरूपी काँटों को सहन करता है, वह पूज्य है। (६।३।६)

५१४—लोहमय काँटे अल्पकाल तक दुःखदायी होते हैं और वे भी शरीर से सहजतया निकाले जा सकते हैं किन्तु दुर्वचनरूपी कांटे सहजतया नहीं निकाले जा सकनेवाले, वैर की परम्परा को बढ़ाने वाले और महाभयानक होते हैं। (६।३।७)

५१५—समावयंता वयणाभिघाया
कण्णंगया दुम्मणियं जणंति।
धम्मो त्ति किच्चा परमग्गसूरे
जिइंदिए जो सहई स पुज्जो ॥ (९।३।८)

५१६—अवण्णवायं च परम्मुहस्स
पच्चक्खओ पडिणीयं च भासं।
ओहारिणिं अप्पियकारिणिं च
भासं न भासेज्ज सया स पुज्जो ॥ (९।३।९)

५१७—अलोलुए अक्कुहए अमाई
अपिसुणे यावि अदीणवित्ती।
नो भावए नो वि य भावियप्पा
अकोउहल्ले य सया स पुज्जो ॥ (९।३।१०)

५१८—गुणेहि साहू अगुणेहिऽसाहू
गिण्हाहि साहूगुण मुंचऽसाहू।
वियाणिया अप्पगमप्पएणं
जो राग-दोसेहिं समो स पुज्जो ॥ (९।३।११)

५१५—सामने से आते हुए वचन के प्रहार कानों तक पहुँचकर दौर्मनस्य उत्पन्न करते हैं। जो शूर व्यक्तियों में अग्रणी, जितेन्द्रिय पुरुष, 'सहना मेरा धर्म है'—यह मानकर उन्हें सहन करता है, वह पूज्य है। (९।३।८)

५१६—जो पीछे से अवर्णवाद नहीं बोलता, जो सामने विरोधी वचन नहीं कहता, जो निश्चयकारिणी और अप्रिय-कारिणी भाषा नहीं बोलता, वह पूज्य है। (९।३।९)

५१७—जो रसलोलुप नहीं होता, जो इन्द्रजाल आदि के चमत्कार प्रदर्शित नहीं करता, जो माया नहीं करता, जो चुगली नहीं करता, जो दीनभाव से याचना नहीं करता, जो दूसरों से आत्म-श्लाघा नहीं करवाता, जो स्वयं भी आत्म-श्लाघा नहीं करता, जो कुतूहल नहीं करता, वह पूज्य है। (९।३।१०)

५१८—गुणों से साधु होता है और अगुणोंसे असाधु। इसलिए साधु-गुणों को ग्रहण कर और असाधु-गुणों को छोड़। आत्मा को आत्मा से जानकर जो राग और द्वेष में सम रहता है, वह पूज्य है। (९।३।११)

५१९—तहेव डहरं व महल्लगं वा
इत्थीपुमं पव्वइयं गिहिं वा।
नो हीलए नो वि य खिंसएज्जा
थंभं च कोहं च चए स पुज्जो ॥ (९।३।१२)

५२०—जे माणिया सययं माणयंति
जत्तेण कन्नं व निवेसयंति।
ते माणए माणरिहे तवस्सी
जिइंदिए सच्चरए स पुज्जो ॥ (९।३।१३)

५२१—तेसिं गुरूणं गुण-सागराणं
सोच्चाण मेहावि सुभासियाइं।
चरे मुणी पंचरए तिगुत्तो
चउक्कसायावगए स पुज्जो ॥ (९।३।१४)

५२२—गुरुमिह सययं पडियरिय मुणी
जिणमय-निउणे अभिगम-कुसले।
धुणिय रय-मलं पुरेकडं
भासुरमउलं गइं गय ॥ (९।३।१५)

५१९—बालक या वृद्ध, स्त्री या पुरुष, प्रव्रजित या गृहस्थ को दुश्चरित की याद दिलाकर जो लज्जित नहीं करता, उनकी निन्दा नहीं करता, जो गर्व और क्रोध का त्याग करता है, वह पूज्य है। (९।३।१२)

५२०—विनय-चर्या से आराधित होने पर जो आचार्य अपने शिष्यों को सतत सम्मानित करते हैं—श्रुत-ग्रहण के लिए प्रेरित करते हैं, पिता जैसे अपनी कन्या को यत्नपूर्वक योग्य कुल में स्थापित करता है, वैसे ही जो आचार्य अपने शिष्यों को योग्य मार्ग में स्थापित करते हैं, उन माननीय, तपस्वी, जितेन्द्रिय और सत्यरत आचार्य का जो सम्मान करता है, वह पूज्य है। (९।३।१३)

५२१—जो मेधावी मुनि उन गुण-सागर गुरुओं के सुभाषित सुन कर उनका आचरण करता है, पाँच महाव्रतों में रत, मन, वाणी और शरीर से गुप्त तथा क्रोध, मान, माया और लोभ को दूर करता है, वह पूज्य है। (९।३।१४)

५२२—इस लोक में गुरु की सतत सेवा कर, जिनमत-निपुण (आगम-निपुण) और अभिगम (विनय-प्रतिपत्ति) में कुशल मुनि पहले किए हुए रज और मल को कम्पित कर प्रकाशयुक्त अनुपम गति को प्राप्त होता है। (९।३।१५)

६२ : सुही कहं ?

५२३—आयावयाही चय सोउमल्लं
कामे कमाही कमियं खु दुक्खं ।
छिन्दाहि दोसं विणएज्ज रागं
एवं सुही होहिसि संपराए ॥ (२।५)

६३ : सुखी कैसे हो ?

५२३—अपने को तपा। सुकुमारता का त्याग कर। काम-विषय-वासना का अतिक्रम कर। इससे दुःख अपने-आप अतिक्रांत होगा। (संयम के प्रति) द्वेष-भाव को छिन्न कर (विषयों के प्रति) राग-भाग को दूर कर। ऐसा करने से तू संसार में सुखी होगा। (२।५)